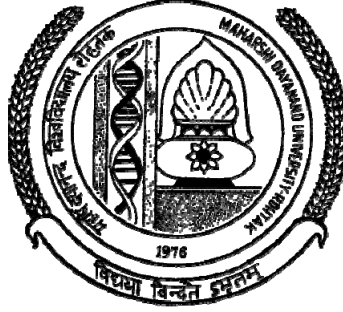


हिन्दी साहित्य का इतिहास-1

Paper Code – 20HND21C3



दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक-124 001

Printed at: MDU Press

Copyright © 2020, Maharshi Dayanand University, ROHTAK

All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

एम०ए०हिंदी
प्रथम सेमेस्टर

तृतीय प्रश्न-पत्र –हिंदी साहित्य का इतिहास-।
(आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल/मध्यकाल तक)

समय 3 घण्टे

पूर्णांक : 100 अंक
सतत् मूल्यांकन : 20 अंक
लिखित : 80 अंक

उद्देश्य

- 1 छात्रों में साहित्य समझने, उसका आस्वादन करने तथा मूल्यांकन करने की दृष्टि को बढ़ाना।
- 2 छात्रों को साहित्य के संदर्भ में विभिन्न साहित्यिक विधाओं के विकास क्रम का परिचय देना।
- 3 छात्रों को युगीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में हिंदी से अवगत कराना।

इकाई –1 हिंदी साहित्येतिहास के अध्ययन की पूर्व पीठिका

हिंदी साहित्येतिहास के अध्ययन की पूर्व – पीठिका
हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा
साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याएँ
हिंदी साहित्य का इतिहास : काल-विभाजन, सीमा-निर्धारण

इकाई- 2 हिंदी साहित्य का आदिकाल

आदिकाल नामकरण और सीमा
आदिकालीन परिवेश: ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक
आदिकालीन कविता की प्रवृत्तियाँ
रासो काव्य-परंपरा
पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता

इकाई- 3 भक्तिकाल

परिवेश: ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक
भक्ति आन्दोलन
भक्तिकालीन काव्य धाराएं : वैशिष्ट्य और अवदान
संत काव्य-धारा : वैशिष्ट्य

सूफी काव्य—धारा : वैशिष्ट्य

राम काव्य—धारा : वैशिष्ट्य

कृष्ण काव्य—धारा : वैशिष्ट्य

भक्ति काल : स्वर्ण युग

इकाई – 4 रीतिकाल

हिंदी साहित्य का रीतिकाल नामकरण,

रीतिकाल परिवेश : ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक

रीतिकालीन कवियों का आचार्यत्व

रीतिकालीन काव्य धाराएँ

रीतिकालीन विभिन्न काव्य की विशेषताएँ

रीतिबद्ध

रीतिसिद्ध

रीतिमुक्त

लघुत्तरी प्रश्न

निर्देश :

1. पाठ्यक्रम में निर्धारित प्रत्येक खंड में से कम से कम एक दीर्घ प्रश्न अवश्य पूछा जाएगा। पूछे गए कुल प्रश्नों की अधिकतम संख्या आठ होगी। परीक्षार्थी को प्रत्येक खंड में से कम से कम एक प्रश्न अर्थात् कुल चार प्रश्न करने होंगे। प्रत्येक प्रश्न के लिए 12 अंक निर्धारित हैं। पूरा प्रश्न 48 अंकों का होगा।
2. पूरे पाठ्यक्रम में कोई दस लघुत्तरी प्रश्न पूछे जाएंगे जिनमें से परीक्षार्थी को 250 शब्दों में किन्हीं छः प्रश्नों का उत्तर देना होगा। प्रत्येक प्रश्न 4 अंक का होगा। पूरा प्रश्न 24 अंक का होगा।
3. पूरे पाठ्यक्रम में से आठ वस्तुनिष्ठ अनिवार्य प्रश्न पूछे जाएंगे। प्रत्येक प्रश्न एक-एक अंक का होगा।

विषय सूची

- इकाई –1 हिंदी साहित्येतिहास के अध्ययन की पूर्व पीठिका** (7–21)
हिंदी साहित्येतिहास के अध्ययन की पूर्व – पीठिका
हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा
साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याएँ
हिंदी साहित्य का इतिहास : काल–विभाजन, सीमा–निर्धारण
- इकाई– 2 हिंदी साहित्य का आदिकाल** (22–43)
आदिकाल नामकरण और सीमा
आदिकालीन परिवेश: ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक
आदिकालीन कविता की प्रवृत्तियाँ
रासो काव्य–परंपरा
पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता
- इकाई– 3 भक्तिकाल** (44–67)
परिवेश: ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक
भक्ति आन्दोलन
भक्तिकालीन काव्य धाराएं : वैशिष्ट्य और अवदान
संत काव्य–धारा : वैशिष्ट्य
सूफी काव्य–धारा : वैशिष्ट्य
राम काव्य–धारा : वैशिष्ट्य
कृष्ण काव्य–धारा : वैशिष्ट्य
भक्ति काल : स्वर्ण युग
- इकाई – 4 रीतिकाल** (68–84)
हिंदी साहित्य का रीतिकाल नामकरण,
रीतिकाल परिवेश : ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक
रीतिकालीन कवियों का आचार्यत्व
रीतिकालीन काव्य धाराएँ
रीतिकालीन विभिन्न काव्य की विशेषताएँ
रीतिबद्ध
रीतिसिद्ध
रीतिमुक्त
- लघुत्तरी प्रश्न** (85–96)

हिंदी साहित्येतिहास के अध्ययन की पूर्व पीठिका

- 1.0 परिचय
 - 1.1 इकाई के उद्देश्य
 - 1.2 हिंदी साहित्येतिहास के अध्ययन की पूर्व पीठिका
 - 1.3 हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा
 - 1.4 साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याएँ
 - 1.5 हिंदी साहित्य का इतिहास : काल-विभाजन, सीमा-निर्धारण
 - 1.6 सारांश
 - 1.7 मुख्य शब्दावली
 - 1.8 अभ्यास हेतु प्रश्न
 - 1.9 आप ये भी पढ़ सकते हैं
-

हिंदी साहित्येतिहास के अध्ययन की पूर्व पीठिका

1.0 परिचय

किसी भी साहित्य का अपना एक इतिहास होता है। अतीत के यथार्थ स्वरूप का अनुशीलन ही इतिहास है। धारा यथार्थ की अपेक्षा आदर्श को अधिक महत्व देता रहा है। अतः इस देश में इतिहास लिखने की प्रवृत्ति कम रही। किन्तु किसी भी देश के साहित्य के सम्यक मूल्यांकन में इतिहास की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। दूसरे शब्दों में इतिहास की जानकारी के बिना साहित्य के क्रमिक विकास को समझा नहीं जा सकता। 'जेम्स थाम्पसन्' ने इतिहास के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए ठीक ही कहा है कि "इतिहास को एक ऐसा महान् पुल समझा जा सकता है, जो काल की नदी पर मेहराब डालता है तथा भूत एवं वर्तमान को परस्पर संयुक्त करता है।"¹ किसी भी युग का इतिहास वर्तमान की उपेक्षा करके नहीं लिखा जा सकता। इतिहासकार अतीत की कहानी को वर्तमान के परिपेक्ष्य में रखकर ही लिखता है। यह सर्वविदित है कि हर पीढ़ी को अपना इतिहास नये सिरे से लिखना चाहिए।² अतः इतिहास को अतीत के ज्ञान के रूप में स्वीकार करने की धारणा युक्ति युक्त नहीं है।³

यह इतिहास ही है जो साहित्य की विभिन्न रचनाओं, परम्पराओं और प्रवृत्तियों का विश्लेषण करता है, साथ ही आगे की दिशा निर्देशित करता है। किसी भी साहित्य की प्रेरक शक्ति और बदलती हुई प्रवृत्तियों को समझने में इतिहास की सहायता लेनी पड़ती है। हम हिंदी साहित्य के इतिहास में हिंदी साहित्य के इतिहास लेखक की परम्परा, साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याओं पर विचार करेंगे। किसी भी विषयवस्तु का बौद्धिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए उसे हिन्हीं काल्पनिक पक्षों, खंडों, वर्गों या तत्वों में विभक्त कर लिया जाता है। जिससे कि उसके विभिन्न अवयवों को सम्यक रूप में ग्रहण किया जा सके। ऐसा न केवल सैद्धान्तिक क्षेत्र में अपितु व्यावहारिक क्षेत्र में भी किया जाता है।

1.1 इकाई के उद्देश्य

- 1 साहित्येतिहास लेखन के विभिन्न पक्षों से परिचित हो सकेंगे;

- 2 साहित्येतिहास की विभिन्न पद्धतियों का परिचय प्राप्त कर पाएंगे ;
- 3 हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा से अवगत हो पाएंगे ;
- 4 हिंदी साहित्येतिहास लेखन की विभिन्न समस्याओं को समझ सकेंगे ;
- 5 हिंदी साहित्य के काल-विभाजन और नामकरण की समस्या को समझ सकेंगे ;
- 6 हिंदी साहित्य के काल-विभाजन के आधारों का विश्लेषण कर पाएंगे

1.2 हिंदी साहित्येतिहास के अध्ययन की पूर्व पीठिका

इतिहास दर्शन साहित्येतिहास की जानकारी को बढ़ाती है। इसीलिए साहित्येतिहास को जानने से पूर्व इतिहास-दर्शन को जानना अति आवश्यक है –

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में अनेक घटनाएं घटती रहती हैं। घटनाओं का इतिहास बनता जाता है और वही इतिहास हमें अतीत से जोड़कर रखता है।

इतिहास शब्द इति + ह + आस से बना है। 'इति' का अर्थ होता है 'ऐसा ही' 'ह' का अर्थ है निश्चित रूप से और 'आस' का अर्थ होता है 'था'। इस प्रकार इतिहास का शाब्दिक अर्थ हुआ – निश्चित रूप से ऐसा ही हुआ था, अर्थात् जो घटनाएं भूतकाल में घटित हुई हैं, उन्हीं के क्रमबद्ध तथा विवेचनात्मक वर्णन को 'इतिहास' कहा जाता है।

डॉ. शिव कुमार लिखते हैं कि, "इतिहास क्या है? इस प्रश्न का उत्तर जितना सरल प्रतीत होता है उतना ही नहीं। इसे एक परिभाषा में बाँधना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि इतिहास की धारा अनेकानेक शाखाओं में विभक्त होकर गतिशील है तथा इसके किनारे स्थिर नहीं हैं। इसके अतिरिक्त अनेक रूपात्मक इतिहास का अवलोकन एवं अध्ययन विभिन्न दृष्टियों से होने के कारण तत्सम्बन्धी जटिलता एवं अस्पष्टता में अधिक वृद्धि हुई है।"

'हीगल' ने लिखा है, "इतिहास केवल घटनाओं का अन्वेषण तथा संकलन मात्र नहीं अपितु उसके भीतर कार्य-कारण सम्बन्ध विद्यमान है।

'रेमंड ऐरन' ने कहा है, "इतिहास अपने संकुचित रूप में मानव के भूतकाल का विज्ञान है, अपने व्यापक रूप में यह धरती, आकाश, नक्षत्रों जीवों तथा सम्यता के विकास का अध्ययन है, ठोस रूप में इतिहास का तात्पर्य तथ्य से है तथा अपने औपचारिक अर्थ में यह उस तथ्य का ज्ञान।

ई.एच. कार के शब्दों में "इतिहास में तथ्यों का कोई इतिहासकार से सर्वथा अलग अस्तित्व नहीं होता इतिहास परिवर्तन है, यह परिवर्तनशील है एवं गतिशील है।

शम्भुनाथ सिंह का कहना है, "इतिहास केवल घटनाओं और व्यक्तियों के जीवन-वृत्त का संग्रह नहीं है। न तो यह विचारधाराओं का आंकलन मात्र है। यह मानव चेतना की सक्रियता का विवेचनात्मक अभिलेख है। मानव चेतना जिन प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रतिक्रियाओं द्वारा अभिव्यक्त होती है उनके समग्र रूप का आंकलन ही इतिहास है. . . इतिहास मानव की विकास प्रक्रिया का ही दूसरा नाम है।"

नामवर सिंह कहते हैं कि, "इतिहास में दृष्टिकोण के लिए कोई स्थान नहीं घटनाओं की खोज ही इतिहास।"

कालिंगवुड ने कहा है, "इतिहास धर्मशास्त्र या भूत विज्ञान की तरह एक चिन्तन पद्धति है। यह एक प्रकार का शोध है, खोज है, अन्वेषण है।"¹ इस प्रकार कहा जा सकता है कि इतिहास न केवल हमें घटना, स्थिति, प्रक्रिया

और प्रकृति का सम्पूर्ण अनुशीलन किया जाता है। इतिहास से मनुष्य का नाता अत्यन्त पुराना है। मानव की समस्त क्रिया तथा प्रतिक्रिया आदि का समावेश इतिहास में किया जाता है। हमारे सारे संस्कार व्यवहार, संस्कृति सब को हम इतिहास की आँखों से देख सकते हैं। बिना अतीत को जाने वर्तमान स्वरूप को नहीं समझा जा सकता।

इतिहास पर प्रकाश डालने के बाद हमें एक बार 'साहित्य' को समझना आवश्यक हो जाता है कि 'साहित्य' क्या है, इसका यथार्थ बोध हो जाने पर ही उसकी प्रगति अथवा अवनति को समझ सकते हैं। साहित्य शब्द सहितौ + यत् (प्रत्यय) से बना है। 'सामान्यतः हम साहित्य शब्द का प्रयोग शब्दार्थ और शब्द-गौरव से युक्त ललित साहित्य, अर्थात् काव्य नाटक, कहानी, निबन्ध आदि के लिए ही करते हैं – यद्यपि प्राचीन काल में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग काव्य के अर्थ में ही हुआ करता था काव्य को ज्ञान के विपुल भण्डार का ही एक प्रधान रूप माना जाता था। भर्तृहरि की प्रसिद्ध पंक्तियों 'साहित्य – संगति – कलाविहीन में 'साहित्य' का 'काव्य' के पर्यायवाची रूप में प्रयोग हुआ है क्योंकि शब्द और अर्थ की परस्पर सामंजस्यपूर्ण स्थिति काव्य में ही सम्भव है।" आचार्य भामह ने अपने काव्यालंकार में कहा है : 'सहितस्य भावः साहित्यम्' अर्थात् जिसमें सहित का मिलने का भाव हो उसे साहित्य कहते हैं। 'सहित' का भाव स्पष्ट करते हुए भामह ने लिखा है, 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' अर्थात् जिसमें शब्द और अर्थ का सामंजस्य हो। इसी को राजशेखर (10वीं शताब्दी) ने काव्य मीमांसा में 'शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।' आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' में साहित्यमनयोः भोभा-शालितां प्रति काव्यसौ।

लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय लिखते हैं कि, "साहित्य के माध्यम द्वारा भाव का भाव के साथ तथा भाषा का भाषा के साथ ही मिलन नहीं होता, वरन् मानव का मानव के साथ अतीत का वर्तमान के साथ, बाध्य का अन्तर के साथ मिलन होता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य के सार्थक एवं सर्वोत्तम विचारों की उत्तमोत्तम लिपिबद्ध अभिव्यक्ति का नाम ही साहित्य है। जातीय विशेषताओं व्यक्तियों और सामाजिक वर्ग के कारण उसके विचित्र रूप हो जाया करते हैं। प्रत्येक काल के साहित्य में उस काल का जीवन छिपा रहता है। क्योंकि साहित्य का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए वह राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों से प्रभावित होता रहता है। वह जीवन-दर्पण है। साहित्य की कसौटी ही किसी जाति की सभ्यता की कसौटी है। असभ्य जातियों में लिखित साहित्य का अभाव रहता है। सभ्य जातियां प्रगति करती हैं। कालानुसार उनका साहित्य भी प्रगति करता है। इसलिए हम उन्हें सभ्य कहते हैं। काल के अनुसार यदि साहित्य न बदला तो वह जाति के पतन का प्रतीक बन जाता है। क्योंकि उसका मनुष्य के संस्कारों और विचार परम्परा से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। वास्तव में जीवन से साहित्य की उत्पत्ति होती है और अन्त में साहित्य से जीवन प्रभावित होता है देश या जाति के जीवन और साहित्य में सामंजस्य रखना ही साहित्य और जीवन दोनों के विकास का राज-मार्ग है।

वस्तुतः साहित्य की प्रगति, परम्परा, निरंतरता और विकास को व्याख्यायित करना ही साहित्य के इतिहास का लक्ष्य है। साहित्येतिहास साहित्य की विकासशील प्रक्रिया का उद्घाटन करता है और इस क्रम में नये और पुराने के संघर्ष को भी रेखांकित करता चलता है। साहित्य के इतिहास लेखन में अतीत को ठीक से परखने और समझने के लिए वर्तमान की सही समझ जरूरी है। साहित्य के इतिहास में कृतियों का मूल्यांकन भी होता है। उसके विचार पक्ष और कला पक्ष पर विचार किया जाता है। साहित्य का इतिहास केवल रूप और वस्तु का इतिहास नहीं होता, वह रचना में व्यक्त रचनाकार की सृजनशील चेतना का भी इतिहास होता है।

साहित्येतिहास

आधुनिक युग में साहित्येतिहास लेखन 'दर्शन एक नई विद्या के रूप प्रस्तुत हैं, जिसके माध्यम से इतिहास लिखने की प्रक्रिया का निर्धारण होता है –

साहित्येतिहास का शाब्दिक अर्थ है, "साहित्य का इतिहास यह दो शब्दों साहित्य और इतिहास की संधि से

बना एक रूप है।¹ साहित्येतिहास वह साहित्यिक विधा है जो हमें मानवता के क्रमिक विकास से परिचित कराती है। 'साहित्य के इतिहास से तात्पर्य देश-काल के आयाम में विकसित साहित्य की समग्रता से भी है तथा भाषा द्वारा उसके व्याख्यात्मक विवरण से भी।'²

'साहित्येतिहास ज्ञान की वह शाखा है जिसमें युग चेतना ओर साहित्य चेतना का अनिवार्य योग होता है। अतः अन्य स्वतन्त्र विधाओं की भाँति साहित्येतिहास भी एक स्वतन्त्र विधा है।'³ लक्ष्मी सागर वाष्ण्य के शब्दों में 'यह एक स्वतन्त्र विधा है, जिसका महत्व भी शैक्षणिक नहीं है। साहित्येतिहास कवियों, लेखकों की नियमावली, नामावली, जीवन तथा समीक्षा आदि न होकर मानववाद का एक महत्वपूर्ण पक्ष है।'

साहित्येतिहास शब्द का प्रयोग सबसे पहले वाल्टेयर ने 18वीं शताब्दी में किया था। इसके बाद 'हीगेल' तथा अनेक विद्वानों ने इस शब्द का प्रयोग किया। हीगेल का मानना है कि इतिहास-दर्शन का अर्थ इतिहास सम्बन्धी चिन्तनयुक्त विचारों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। आधुनिक काल में साहित्येतिहास लेखन की परम्परा को विशेष दर्जा दिया गया। जिससे यह एक दर्शन के रूप में माना जाने लगा है। इसके अध्ययन की पूर्व पीठिका को प्रस्तुत करना कोई सरल कार्य नहीं है, क्योंकि पाश्चात्य विद्वानों, दार्शनिक, इतिहासकारों, आलोचकों और भारतीय विद्वानों ने इसके विकास एवं सिद्धांतों पर अलग-अलग मत व्यक्त किए हैं। विकासवादी सिद्धान्तों के अध्ययन में इतिहास की नई व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस सन्दर्भ में दार्शनिक कान्त का मत है कि सृष्टि का बाह्य विकास प्रकृति की आन्तरिक विकास प्रक्रिया का प्रतिबिम्ब मात्र है। 'हीगल के विचार इस प्रकार प्रस्टफुटित हुए हैं - इतिहास केवल विद्यमान है। विश्व इतिहास की प्रक्रिया का मूल लक्ष्य मानव चेतना का विकास है जो द्वन्द्वात्मक पद्धति पर आधारित है। यह सिद्धान्त प्रकृति और भौतिक वस्तुओं के पारस्परिक द्वन्द्व को ही मान्यता देता है। इसके अनुसार दो परिस्थितियों घटनाओं के परस्पर संघर्ष के पश्चात् जो तीसरी वस्तु सामने आएगी वह पहले से बेहतर अवस्था में होगी। यह बात समाज व भौतिक संसार की समस्त वस्तुओं पर लागू होती है। इस प्रकार इतिहास-दर्शन का यह विकासशील दृष्टिकोण साहित्येतिहास-दर्शन को जानने के लिए उपयोगी एवं मान्य है। इसके अन्दर मानवीय समाज की समस्त परिस्थितियों का लेखा-जोखा होता है। इसीलिए साहित्य में तत्कालीन इतिहास मुखर हो पाने में समर्थ होता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी साहित्येतिहास को परिभाषित करते हुए लिखते हैं 'साहित्य का इतिहास, पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियों के उद्भव और विकास की कहानी नहीं है। वह वस्तुतः आदिकाल प्रवाह में निरन्तर प्रवाहमान जीवित मानव समाज की ही विकास कथा है। ग्रंथ और ग्रंथकार कवि और काव्य सम्प्रदाय और उनके आचार्य उस परम शक्तिशाली प्राणधारा की ओर सिर्फ इशारा भर करते हैं। वे ही मुख्य नहीं हैं, मुख्य है मनुष्य; जो प्राणधारा नाना अनुकूल प्रतिकूल अवस्था में बहती हुई हमारे भीतर प्रवाहित हो रही है। उसको समझने के लिए भी हम साहित्य का इतिहास पढ़ते हैं। वास्तव में साहित्येतिहास काव्य रचनाओं व कवियों का ब्यौरा न होकर मानव बुद्धि विकास की निरन्तर विकसित चेतना का लेखन है। इस संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, 'आदि से अन्त तक इन्हीं चितवृत्तियों तक की परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है।' अतः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अभिप्राय है कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ के जन-मानस का चितवृत्तिपरक मूल्यांकन होता है। चितवृत्तियों के परिवर्तन के साथ ही साहित्य के इतिहास में भी परिवर्तन होता है। डॉ. शिवकुमार ने 'साहित्य के विकास की जटिलता की तर्कसंगत व्याख्या को साहित्येतिहास माना है। डॉ. नगेन्द्र 'साहित्येतिहास का मत है कि 'साहित्य के इतिहास में हम प्राकृतिक घटनाओं व मानवीय क्रिया-कलापों के स्थान पर साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से करते हैं। साहित्यिक रचनाएं भी मानवीय क्रिया-कलापों का ही दर्शन करवाती है। इतिहास को समझने से पूर्व उनके रचनाकारों से संबंधित स्थितियों, परिस्थितियों एवं परम्पराओं को जानना भी अति आवश्यक होता है। किसी कृतिकार की वास्तविक शक्ति रचनाओं, रचनाकारों और रचना प्रवृत्तियों के मूल्यांकन में ही प्रकट होती है। साहित्येतिहास-लेखन में अनेक तत्त्व उसके साधक के रूप में कार्य करते हैं। उन तत्त्वों का उल्लेख यहाँ पर समीचीन जान पड़ता है। साहित्येतिहास लेखन में

अनेक साधक तत्त्व हो सकते हैं। राजनीतिक तत्त्व, सांस्कृतिक तत्त्व, दार्शनिक तत्त्व, आलोचनात्मक तत्त्व वस्तुतः साहित्येतिहास लेखन में साहित्यिक तत्त्वों की प्रधानता होती है लेकिन अन्य तत्त्वों की सार्थकता और महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। क्योंकि इन्हीं तत्त्वों से साहित्येतिहास प्रमाणिक एवं पूर्ण बनता है। इस सन्दर्भ में डॉ. मैनेजर पाण्डेय का विचार इस प्रकार रहा है, “उसका कतिपय नियमों का सरलीकरण करना गलत है। ऐतिहासिक तथ्यों को विकृत न करते हुए साहित्य के इतिहास को समझना ही हमारा ध्येय होना चाहिए। केवल इसी प्रकार हम मानवता की मुक्ति के लिए इस अन्तिम संघर्ष में योग दे सकेंगे। अतीत का अविकृत और सत्यपूर्ण उद्घाटन ही वर्तमान में सक्रिय हो सकता है। साहित्येतिहास—लेखन की सामग्री को ही साहित्येतिहास का स्रोत कह सकते हैं। लेखन सामग्री का संकलन और सामग्री का निर्धारण साहित्येतिहास लेखन की अनिवार्यता होती है।”

साहित्येतिहास में प्रयुक्त सामग्री को दो वर्गों में रखा जा सकता है। आन्तरिक साक्ष्य से सम्बन्धित सामग्री तथा बाहरी साक्ष्य से संबंधित सामग्री।

आन्तरिक एवं बाह्य परीक्षणों के माध्यम से साहित्येतिहास—लेखक किसी रचना की प्राचीनता और प्रामाणिकता के निर्धारण का प्रयास करता है। उदाहरण के तौर पर चन्द्रवरदायी कृत ‘पथ्वीराज रासो’ नामक कृति ले सकते हैं। आन्तरिक एवं बाह्य परीक्षणों के आधार पर ही साहित्येतिहासकार उसकी प्रामाणिकता तथा स्थिति का निर्धारण करते चले आ रहे हैं।

1.3 हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा

हिंदी साहित्य में व्यवस्थित—लेखन की परम्परा का प्रवर्तन उन्नीसवीं शती से ही आरंभ हुआ। इससे पूर्व के ग्रंथों को ‘इतिहास’ की संज्ञा नहीं दी जा सकती। पूर्ववर्ती ग्रंथ विभिन्न कवियों के कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर आंशिक रूप से प्रभाव डालते हैं। ऐसी प्रारम्भिक कृतियों में ‘चौरासी वैष्णवन की वार्ता’ दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता’ भक्तमाल, कविमाला, व कालिदास हजार आदि प्रमुख हैं। इन संग्रहों में काल—क्रमिक विवेचन न होने के कारण इनको साहित्य इतिहास वर्ग में स्थान नहीं दिया जा सकता।

हिंदी में इतिहास लेखन की परम्परा के विकास में फ्रैंच विद्वान गार्सा—द—तासी ने (इस्त्वार द ला लिनटरेत्यूर ऐंडुई ऐ ऐंडुस्तानी) का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। इन्होंने ‘हिन्दुषी हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास’ लिखा। जिसमें हिंदी और उर्दू के विभिन्न 738 कवियों को वर्ण क्रमानुसार स्थान मिला। इसमें 72 हिंदी के कवि सम्मिलित किए गये थे। इस ग्रंथ का सर्वाधिक महत्व है कि यह हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन का प्रथम प्रयास है। इस कृति में हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं के कवियों को सम्मिलित किया गया है। डॉ. नगेन्द्र ने इसके विषय में कहा है कि “कवियों को कालक्रम के स्थान पर अंग्रेजी वर्णक्रम में प्रस्तुत करना, काल विभाजन, युगीन प्रवृत्तियों का अभाव और हिंदी उर्दू कवियों को घुला मिला देना त्रुटिपूर्ण है।” अनेक न्यूनताओं के होते हुए भी इतिहास लेखन की परम्परा के प्रवर्तक के रूप में तासी को गौरव प्राप्त है।”

हिंदी साहित्येतिहास लेखक की परम्परा में शिवसिंह सेंगर का नाम विशिष्टता के साथ लिया जाता है। उनका ग्रंथ शिवसिंह सेंगर कृत ‘शिवसिंह सरोज’ (1865) है। इस ग्रंथ में 998 कवियों का विवरण दिया गया है। शिवसिंह सेंगर ने प्रस्तुत ग्रंथ की रचना के लिए हिंदी और संस्कृति के अनेक ग्रंथों की सहायता ली थी। शिवसिंह सरोज के विषय में कहा जा सकता है कि यह हिंदी का ऐसा पहला ग्रंथ है जो परवर्ती साहित्येतिहास लेखन का आधार ग्रंथ बना।

जार्ज इब्राहिम ग्रियर्सन ने ‘द मार्डन वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑफ हिंदुस्तान’ नामक इतिहास—ग्रंथ की रचना की, जिसका प्रकाशन सन् 1888 ई. में हुआ। यह ग्रंथ नाम से इतिहास न होते हुए भी सही अर्थ में हिंदी साहित्य का पहला इतिहास माना जा सकता है। ‘शिवसिंह सरोज’ पर आधारित होकर भी ग्रियर्सन ने यथास्थान कवियों तथा

उनके रचना-काल से सम्बन्धित नई सूचनाएँ प्रस्तुत की हैं। उन्होंने सामग्री को यथासम्भव कालक्रमानुसार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इतिहास में कवियों को अंक देने वाली प्रणाली ग्रियर्सन की ही देन है। सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के काव्य को 'स्वर्णयुग' की संज्ञा देने वाले इतिहासकार ग्रियर्सन ही हैं। आचार्य शुक्ल ने इसी ग्रंथ के आधार पर अपने इतिहास-ग्रंथ की रचना की है। इस ग्रंथ में प्रत्येक खण्डकाल विशेष के सूचक हैं। जिनमें चारण काव्य, धार्मिक काव्य, प्रेम काव्य आदि का आभार होता है।

मिश्र बन्धुओं ने 'मिश्र बन्धु विनोद' नामक पुस्तक में हिंदी साहित्य का इतिहास लिखा। यह ग्रंथ चार भागों में लिखा गया है। जिसके प्रथम तीन भाग सन् 1913 ई. में तथा चतुर्थ भाग सन् 1934 ई. में प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ में कुल 4592 कवियों की जीवनी तथा आलोचनाओं के विवरण संग्रहित किये गये। इस ग्रंथ की रचना का आधार 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की खोज रिपोर्ट थी। कवियों के परिचयात्मक विवरण आचार्य शुक्ल ने इसी ग्रंथ से लिया है। समस्त परवर्ती इतिहासकारों ने इसी इतिहास ग्रंथ का आश्रय ग्रहण किया है। आचार्य शुक्ल-साहित्योतिहास लेखन की परम्परा में सर्वाधिक उल्लेखनीय नाम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का रहा है। उन्होंने इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाते हुए सुव्यवस्थित इतिहास लिखकर इतिहास-लेखन की परम्परा में एक नये युग और नयी चेतना की शुरुआत की। आचार्य शुक्ल का हिंदी साहित्य का इतिहास नामक ग्रंथ पहले 'हिंदी शब्द सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया था, और फिर 1929 ई. में परिमार्जन के साथ अलग पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल में रचनाकार-चयन की गहरी दृष्टि थी। चयन प्रक्रिया का परिचय देते हुए उन्होंने 'मिश्र बन्धु विनोद' के पाँच हजार कवियों में लगभग एक हजार प्रतिनिधि कवियों को ही अपने इतिहास में स्थान दिया है। वास्तव में, आचार्य शुक्ल ने इतिहासकार की तथ्यपरक दृष्टि की अपेक्षा साहित्यलोचन की गहरी और पारदर्शी दृष्टि को प्रमुखता दी। यही अद्भुत मूल्यांकन की क्षमता ही उनके इतिहास की प्राण शक्ति का पुंज है।

शुक्ल जी ने जनता की चित्तवृत्ति के साथ-साथ साहित्य का सम्बन्ध जोड़ते हुए उसके क्रमिक विकास और परिवर्तन का आलेख प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त उसमें विशेषकवियों के काव्य-गुणों व उनके महत्व का भी सोदाहरण विवेचन किया है।

अनेक विशेषताओं के बाद भी शुक्ल के इतिहास में भी कतिपय भ्रान्तियाँ और कमियाँ दिखायी पड़ती हैं। अत्यधिक शोधों से वीरगाथा काल के नामकरण सामग्री और प्रवृत्तियों के विषय में आचार्य शुक्ल की मान्यताएँ और धारणाएँ आधारहीन सिद्ध हो चुकी हैं, ऐसे ही और भी स्थलों पर कुछ कमियाँ देखी जा सकती हैं। फिर भी शुक्ल का साहित्योतिहास लेखन की परम्परा में एक महत्वपूर्ण कड़ी का काम करता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने साहित्योतिहास के तीन महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है।

1. 'हिंदी साहित्य की भूमिका' संस्करण 1940 ई. ,
2. 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' 1952 ई. ,
3. 'हिंदी साहित्य - उद्भव और विकास', 1955 ई.

आचार्य द्विवेदी 'हिंदी साहित्य की भूमिका' से साहित्य इतिहास लेखन के लिए नई दृष्टि, नई सामग्री और नई व्याख्या मिलती है। आचार्य द्विवेदी ने साहित्य की विभिन्न रचना परम्पराओं उनकी शैलियों का विवरणात्मक और तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। संत काव्य की सुन्दर पृष्ठभूमि के साथ प्रेमाख्यान काव्य पर अनुसंधानात्मक कार्य करके तथ्य प्रतिपादन किया है। इनकी लेखनी से हिंदी साहित्य उद्भव और विकास के अध्ययनकर्त्ताओं और परवर्ती लेखकों के लिए अपूर्व प्रेरणा स्वरूप है।

श्यामसुंदर दास का 'हिंदी भाषा और साहित्य' भी उल्लेखनीय है। इसमें उन्होंने कवियों के विकास का कलाओं के विकास के परिपेक्ष्य में अध्ययन प्रस्तुत किया है, साथ ही ऐतिहासिक परिस्थितियों पर विशेष ध्यान दिया है।

डॉ. रामकुमार वर्मा हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (1938ई.) की साहित्यिक इतिहास लेखन की योजना विस्तृत थी परन्तु वे उसे पूर्ण नहीं कर सके। उनका ग्रंथ भक्तियुग के इतिहास लेखन तक सीमित है। डॉ. सुमनराजे ने इसके महत्त्व और सीमा पर विचार करते हुए लिखा है : डॉ. वर्मा के इतिहास की सबसे बड़ी देन विपुल सामग्री का संघन एवं संयोजन है। इस ग्रंथ के रचनाकाल तक जितनी सामग्री शोध के द्वारा प्रकाश में आयी थी, उस सबका उपयोग डॉ. वर्मा ने किया है। 'नागरी प्रचारिणी सभा' काशी के सौजन्य से हिंदी साहित्य का वृहत इतिहास प्रकाशित हुआ। यह विस्तृत इतिहास 16 खण्डों में विभक्त किया गया है। इसमें सबसे अधिक लेखकों को योगदान इसकी अपूर्व सफलता ने 100 से अधिक लेखकों और सम्पादकों की भूमिका में हिंदी साहित्य की विविध धाराओं परम्पराओं के विभिन्न सूत्रों का पूर्ण आकर्षण रूप से समायोजन किया गया है। डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' सन् 1965 ई. में लिखा। उनके साहित्येतिहास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने पाश्चात्य विचारकों और इतिहासकारों के विचारों का मंथन करके इतिहास-प्रक्रिया का वैधानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

साहित्यिक इतिहास लेखन में निम्नलिखित ग्रंथ उल्लेखनीय हैं :

1. पं. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का हिंदी साहित्य का इतिहास 1931 ई.
2. श्री सूर्यकान्त शास्त्री का 'हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास 1932 ई.
3. डॉ. विश्वनाथत्रिपाठी का हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास 1932 ई.
4. पं. अयोध्यासिंह उपाध्याय का हिंदी भाषा और उसके साहित्य का विकास 1934 ई.
5. डॉ. बच्चन सिंह द्वारा रचित 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास'
6. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित 'हिंदी साहित्य'
7. डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय द्वारा रचित 'हिंदी साहित्य का इतिहास'

हाल ही में दलित लेखन और नारी लेखन की परम्परा से जुड़े कुछ चिन्तकों ने साहित्येतिहास लेखन के क्षेत्र में भी काम किया है। डॉ. धर्मवीर, ओमप्रकाश वाल्मीकि, जयप्रकाश कर्दम तथा मोहनदास नैमिशराय इत्यादि लेखकों ने दलित वेदना पीड़ा दलित दृष्टिकोण से इतिहास के कुछ प्रसंगों को उठाया है। वही नारी लेखन के दृष्टिकोण से डॉ. सुमन राजे ने 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' नामक पुस्तक में उन महिला लेखकों को प्राथमिकता दी है, जिन्हें सामान्यतः पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया गया है।

इस प्रकार हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा सतत् चलती रही है। पूर्णकालीन इतिहास ग्रन्थों से प्रेरणा लेते हुए नई मान्यताओं और मौलिकताओं के साथ नए इतिहास ग्रंथ सामने आते रहे हैं। हिंदी साहित्य के प्रारम्भिक इतिहास लेखक गार्सा-द-तासी से लेकर आज तक इस दिशा में क्रमिक विकास चलता रहा है। समय-समय पर नई दृष्टि, नई पद्धति और नए चिन्तन के आधार पर अनुकूल और संतोषजनक साहित्य इतिहास के तथ्यों का उद्घाटन होता रहा है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य के इतिहास की सुदृढ़ परम्परा सतत् प्रवाहित होती रही है।

1.4 साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याएँ

साहित्येतिहास के स्वरूप का उल्लेख करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का स्थायी प्रतिबिम्ब होता है। तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों

की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक, तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।" हिंदी साहित्य के प्रारम्भ का प्रश्न—हिंदी साहित्य के लेखन की पहली समस्या यह है कि इसका प्रारम्भ कब से माना जाए। शिवसिंह सेंगर, जार्ज ग्रियर्सन और मिश्र बंधुओं ने हिंदी साहित्य का प्रारम्भ सातवीं शती से स्वीकार किया है। राहुल सांस्कृत्यायन ने सातवीं शती के सरहपा को हिंदी का प्रथम कवि माना है, जबकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसका आरम्भ दसवीं शताब्दी माना है। लेकिन शुक्ल ने जिन कृतियों के आधार पर अपने मत का निर्धारण किया था उनका अस्तित्व भी संदेह की नजर में आ गया है। कुछ विद्वानों ने बारहवीं शती से हिंदी का आरम्भ माना है। इसमें डॉ. गणपति चन्द्र का उल्लेख किया जा सकता है। डॉ. उदयनारायण तिवारी, डॉ. नामवरसिंह आदि विद्वानों ने हिंदी साहित्य एवं भाषा का आरम्भ चौदहवीं शती से माना है। इससे स्पष्ट होता है कि हिंदी साहित्य के प्रारम्भ के संबंधों में कई मत प्रचलित हैं। लेकिन 12 वीं शती को विद्वानों ने तर्कसंगत एवं प्रामाणिक माना है।

1. काल विभाजन की समस्या: हिंदी साहित्य को आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल में विभाजित किया गया है। आचार्य शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य का इतिहास में इसी विभाजन को अपनाया है। लेकिन बाद में यह काल विभाजन भी विद्वानों के संदेहों के घेरे में आ गया। साहित्य की लगातार विकासशील प्रकृति के कारण कोई भी काल अन्तिम सत्य के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता। इतिहास लेखन के लिए काल—विभाजन जितना महत्वपूर्ण है उतना ही समस्यापूर्ण भी है।

2. नामकरण की समस्या: हिंदी साहित्येतिहास के लेखन में काल—विभाजन के साथ ही नामकरण की समस्या भी जुड़ी हुई है। इसके लिए कभी प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति को आधार बनाया जाता है और कभी साहित्यकार को, कभी पद्धति का आश्रय लिया जाता है और कभी विषय का। आचार्य शुक्ल ने जिन ग्रन्थों के आधार पर आदिकाल को वीरगाथाकाल कहना उपयुक्त समझा था उसके बाद के विचारकों ने उस पर एकदम असहमति व्यक्त की और अपने—अपने मत के समर्थन में विभिन्न प्रकार के तर्क प्रस्तुत किये। उनके अनुसार इन ग्रन्थों में से कुछ तो अपर्याप्त हैं और कुछ की प्रामाणिकता संदिग्ध है और कुछ का वीरगाथा—वर्णन से किसी प्रकार का संबंध ही नहीं है।

3. साहित्यकारों के चयन और निर्धारण की समस्या: हिंदी साहित्येतिहास लेखन में साहित्यकारों के चयन और उनके निर्धारण की भी गंभीर समस्या रहती है। इतिहास—लेखक के सामने यह संकट बना रहता है कि किस रचनाकार की रचना को वह अपनी कृति में स्थान दे और किस को न दे। इस कार्य—कारण संबंध के बिना इतिहास में काफी त्रुटियाँ होने की संभावना बनी रहती है।

4. मूल्यांकन की समस्या: हिंदी साहित्येतिहास लेखन में मूल्यांकन की समस्या भी एक गंभीर समस्या बनी रहती है। इस विषय में डॉ. नामवर सिंह का मत इस प्रकार प्रतिपादित हुआ है कि साहित्य के इतिहास में काल—विभाजन और नामकरण से अधिक महत्वपूर्ण मूल्यांकन की समस्या होती है। किसी इतिहासकार की वास्तविक शक्ति रचनाओं, रचनाकारों और रचना प्रवृत्तियों के मूल्यांकन से ही प्रकाश में आ पाती है। इसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि साहित्यलेखक तटस्थ एवं निष्पक्षतापूर्ण कार्य को सम्पन्न करें।

5. इतिहास—लेखन की पद्धति संबंधी समस्या: साहित्येतिहास—लेखन की पद्धति भी साहित्य—इतिहास—लेखन की एक समस्या है। हिंदी साहित्य के प्रारम्भिक इतिहास ग्रन्थों में इस प्रकार की समस्या संबंधी परिचय प्राप्त होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पहली बार हिंदी साहित्य लेखन को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने का सफल प्रयास किया। उनके बाद इतिहासकारों ने इतिहास—लेखन का वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन किया। आज तक हिंदी साहित्य में युगपरक विभाजन के आधार पर ही अध्ययन की प्रवृत्तियों की पद्धति प्रचलित रही है। इस पद्धति का प्रमुख दोष यह है कि प्रत्येक युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों को उस युग की काल सीमाओं तक ही सीमित मान लिया जाता है।

6. हिंदी साहित्य के वैचारिक स्रोतों की समस्या: हिंदी साहित्य के इतिहास—लेखन में साहित्य के वैचारिक स्रोतों की भी एक समस्या आड़े आती है। हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य का विकास बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से माना जाये, किन्तु हिंदी साहित्य में पायी जाने वाली अनेक विचार धाराओं और विशेषताओं के स्रोत पौराणिक भारतीय साहित्य में, संस्कृति में निकाले जा सकते हैं। उदाहरण के तौर पर आदिकालीन जैन धर्म से संबंधित रास काव्य परम्परा के स्रोत महावीर, नेमिनाथ आदि जैन तीर्थकारों के उपदेशों में समाहित हैं। इसी प्रकार भक्तिकालीन साहित्य में विद्यमान दार्शनिक विचारधारा और रहस्यानुभूति का मूल उद्गम स्रोत उपनिषदों में देखा जा सकता है।

7. हिंदी साहित्येतिहास में अन्य भाषाओं का साहित्य: हिंदी साहित्येतिहास में अन्य भाषाओं के साहित्य का सन्निवेश होना चाहिए या फिर नहीं। यह भी एक गम्भीर समस्या बनी रहती है। हिंदी साहित्य के कतिपय विद्वानों का मानना रहा है कि उर्दू को भी हिंदी साहित्य में समाहित किया जा सकता है। इस विषय में डॉ. नगेन्द्र का मत रहा है कि हिंदी साहित्य के इतिहास में उर्दू का समावेश एक बरबस प्रयास होगा। मैथिली और राजस्थानी साहित्य का इतिहास आदिकाल से ही हिंदी साहित्य के साथ सम्बद्ध रहा है और विद्यापति, चन्दबरदायी, पृथ्वीराज आदि कवियों को हिंदी साहित्य के इतिहास में निरन्तर महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। परन्तु भाषा की कठिनाई के कारण इन भाषाओं के कवि—लेखकों तथा उनकी कृतियों के साथ न्याय नहीं हुआ है। इसी प्रकार गुरुमुखी लिपिबद्ध हिंदी गद्य—पद्य का प्रचुर साहित्य आज उपलब्ध है जिससे हिंदी साहित्य का इतिहासकार या तो अनभिज्ञ रहा है या पंजाबी की रचनाएँ समझकर उनकी उपेक्षा करता रहा है। इस सम्पूर्ण वाङ्मय का हिंदी साहित्य के इतिहास में विवेकपूर्वक उपयोग करना चाहिए, क्योंकि हिंदी की परिभाषा हमें बताती है कि यह सब हिंदी साहित्य के ही अभिन्न अंग है।

1.5 हिंदी साहित्य का इतिहास : काल—विभाजन, सीमा—निर्धारण

हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों की परम्परा की सुनिश्चित पृष्ठभूमि नहीं है। इसका अधिकांश भाग अब तक भी अप्राप्य ही है। अन्य तथ्य खोज के अभाव में अज्ञात ही रह गए हैं। भारतवर्ष पर अनेक आक्रमणों और देवी प्रकोपों से हिंदी साहित्य का बहुत बड़ा अंश काल कवलित होकर रह गया है। जो तथ्य हमारे सामने हैं उन्हीं के आधार पर हम काल विभाजन की कोशिश करते हैं।

प्रारम्भ की पुस्तकों में काल विभाजन संबंधी तथ्यों का अभाव रहा है। इनमें उपलब्ध कवियों और उनकी रचनाओं का विवरण ही मिलता है। ऐसे ग्रन्थों में नाभादास के 'भक्तमाल' में 200 भक्तों का चरित्रांकन किया गया है। ब्रज के वार्ता साहित्य में 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' और 'दो सौ बावन' वैष्णवों की वार्ता' प्रमुख हैं। यह क्रम काफी लम्बे समय तक चलता रहा है। शिवसिंह सेंगर ने 'शिव सिंह सरोज' में 829 कवियों की कविताओं का संकलन किया है और अन्त में 1003 कवियों के विवरण भी प्रस्तुत किए हैं। सेंगर ने हिंदी साहित्य के इतिहास को शताब्दियों के आधार पर विभाजित करने का प्रारम्भिक प्रयास किया है। इस विभाजन का कोई विशेष महत्त्व नहीं रहा। डॉ. ग्रियर्सन ने अपनी रचना 'दी माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान' में काल विभाजन करते हुए विभिन्न साहित्यकारों पर विशद चर्चा भी की है। उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास को 12 भागों में विभक्त किया है। यह विभाजन किसी एक आधार से न जुड़कर साहित्यिकता, राजनीतिक, रचना—प्रकृति आदि की विविधता से जुड़ा है। इसमें साहित्य इतिहास के विभाजन का प्रयास अवश्य दिखाई देता है किन्तु विभाजन तर्क संगत नहीं है। मिश्र बन्धुओं ने अपने साहित्येतिहास ग्रन्थ 'मिश्रबन्धु विनोद' में काल—विभाजन में नयी दृष्टि और नये विवेक का परिचय दिया है। मिश्र बन्धुओं का प्रयास निश्चित ही सभी दृष्टियों से ग्रियर्सन के काल—विभाजन से बहुत विकसित

और वैज्ञानिक है। विभाजन इस प्रकार किया गया है—

1. आरम्भिक काल

- (1) पूर्वारम्भिक काल : संवत् 700 से लेकर 1343 तक
- (2) उत्तरारम्भिक काल : संवत् 1343 से 1444 तक

2. माध्यमिक काल

- (1) पूर्वमाध्यमिक काल : संवत् 1445 से 1560 तक
- (2) प्रौढ़ माध्यमिक काल : संवत् 1561 से 1580 तक

3. अलंकृत काल

- (1) पूर्वालंकृत काल : संवत् 1681 से 1790 तक
- (2) उत्तरालंकृत काल : संवत् 1791 से 1889 तक

4. परिवर्तन काल : संवत् 1890 से 1925 तक

5. वर्तमान काल : संवत् 1926 से आगे

मिश्र बन्धुओं का काल—विभाजन व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक है, परन्तु इस वर्गीकरण में अनेक विसंगतियाँ देखी गई हैं। पूरे वर्गीकरण में कोई निश्चित आधार नहीं अपनाया गया है। आरम्भिक काल, माध्यमिक काल, वर्तमान काल आदि विभाजन के साथ अलंकृत काल नाम युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि यह काल क्रम के आधार से अलग प्रकृतिगत आधार को प्रकट करता है। इसमें पद्धति की दृष्टि से भी एकरूपता का निर्वाह नहीं किया गया है। प्रथम तीन कालों को दो-दो खण्डों में वर्गीकृत किया गया है, किन्तु बाद के दो कालों में यह पद्धति नहीं अपनायी गई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास का काल—विभाजन चार भागों में किया है।

- 1 आदिकाल – वीरगाथाकाल : संवत् 1050—1375
- 2 पूर्व मध्यकाल— भक्तिकाल: संवत् 1375—1700
- 3 उत्तर मध्यकाल— रीतिकाल : संवत् 1700—1900
- 4 आधुनिक काल – गद्यकाल, संवत् 1900 से अद्यावधि

आचार्य शुक्ल ने आदिकाल में वीरगाथाओं की प्रमुखता को ध्यान में रखकर इसे 'वीरगाथाकाल' के नाम से अभिहित किया। शुक्ल ने इसमें तीन प्रमुख बातों पर ध्यान दिया है—(1) वीरगाथात्मक ग्रंथों की प्रचुरता (2) जैनों द्वारा प्राचीन ग्रंथों को धार्मिक साहित्य घोषित करके उसे रचनात्मक साहित्य की परिधि से निकाल देना और इसी प्रकार नाथों और सिद्धों की रचनाओं को शुद्ध साहित्य में स्थान न देना (3) मुख्य बात उन रचनाओं की है, जिनमें भिन्न-भिन्न विषयों पर फुटकर दोहे मिलते हैं। आचार्य शुक्ल ने वीरगाथाकाल का नामकरण करते समय निम्नलिखित रचनाओं का उल्लेख किया है—

- 1 विजयपाल रासो—नल्लसिंह: संवत् 1355
- 2 हम्मीर रासो—शार्ङ्गधर: संवत् 1357
- 3 कीर्तिलता—विद्यापति: संवत् 1460
- 4 कीर्तिपताका—विद्यापति: संवत् 1460

उपर्युक्त रचनाएं अपभ्रंश भाषा में लिखी गई हैं। देशी भाषा में रचित पुस्तकों का ब्यौरा इस प्रकार है।

- 1 खुमान रासो—दलपति विजय: संवत् 1180—1205
- 2 बीसलदेव रासो—नरपति नाल्ह: संवत् 1292
- 3 पृथ्वीराज रासो—चन्द्रबरदाई: संवत् 1225—1249
- 4 जयचन्द प्रकाश—भट्ट केदार: संवत् 1225
- 5 जय मयंकजस चन्द्रिका— मधुकर: संवत् 1240
- 6 परमाल रासो—आल्हा का मूल जगनिक: संवत् 1230
- 7 खुसरो की पहेलियाँ—अमीर खुसरो: संवत् 1230
- 8 विद्यापति पदावली—विद्यापति, संवत् 1460

एक बात यह है कि शुक्ल जी ने जिन ग्रन्थों को धार्मिक कहकर छोड़ दिया था, उन्हें तथा कुछ नव्य प्राप्त ग्रंथों को भी अब साहित्य—परिधि में समाविष्ट कर लिया गया है। डॉ. श्याम सुन्दर दास ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'हिंदी भाषा और साहित्य' के 'साहित्य' भाग में काल—विभाजन का अद्भुत मार्ग अपनाया है। इन्होंने काल—विभाजन तो शुक्ल के अनुसार ही किया है, परन्तु विवेचन करते समय यह मौलिकता दिखायी है कि, हिंदी साहित्य की प्रत्येक प्रधान प्रवृत्ति का विकास एवं इतिहास—आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक था एक साथ प्रस्तुत कर दिया है। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सम्पूर्ण हिंदी साहित्य के इतिहास को बीज—वपन, अंकुरोद्भव तथा पत्रोद्गम काल के नाम से तीन भागों में विभक्त किया है। परन्तु यह नाम समीचीन मालूम नहीं पड़ता है। साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से इसे उक्त नाम से पुकारना असंगत है, क्योंकि इस काल में अपने पूर्ववर्ती साहित्य की सभी काव्य रूढ़ियों और परम्पराओं का भी उद्भव हुआ, जो अपने समुचित विकसित रूप में है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रस्तुत काल के साहित्य को अन्तर्विरोधों का साहित्य कहा है, किन्तु घूम फिर कर उन्होंने इस काल को आदिकाल के नाम से पुकारा है। परन्तु आचार्य द्विवेदी ने यह भी स्वीकार किया है कि 'आदिकाल' से आने वाला आदि शब्द सबसे अधिक खतरनाक है। उन्होंने लिखा है, "वस्तुतः हिंदी का आदिकाल शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम मनोभापन्न, परंपराविनिर्मुक्त, काव्य—रूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है।" यह ठीक बात नहीं है क्योंकि यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी, रूढ़िग्रस्त, सजग और सचेत कवियों का काल है।

आदिकाल अथवा वीरगाथाकाल के नामकरण

हिंदी साहित्य में वीरगाथा काल अथवा आदिकाल के नामकरण तथा काल—विभाजन को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद पाया जाता है। शुक्ल जी ने पहले मिश्र बन्धुओं के आदिकाल को आरम्भिक काल के दो उपखण्डों पूर्व तथा उत्तर में, विभाजित करते हुए इसकी समय—सीमा संवत् 700 विक्रम से संवत् 1343 विक्रम तथा संवत् 1344 विक्रम से संवत् 1444 विक्रम निर्धारित की थी। इसमें संशोधन करके आचार्य शुक्ल ने इस काल को समयावधि के आधार पर आदिकाल तथा प्रवृत्तियों की अधिकता के आधार पर 'वीरगाथाकाल' कहा था तथा इस काल की सीमा रेखा संवत् 1050 विक्रम से संवत् 1375 विक्रम तक मानी है। शुक्ल ने जिस उपलब्ध साहित्यिक सामग्री के आधार पर प्रवृत्तिमूलक नामकरण तथा काल—विभाजन किया, उसमें अधिकांश कृतियाँ दो प्रकार की भाषाओं में लिखी मिलती हैं। एक तो अपभ्रंश भाषा की तथा दूसरी देशी भाषा की है।

हिंदी साहित्य काल-विभाजन, सीमा निर्धारण और नामकरण को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद पाया जाता है। हिंदी साहित्य के काल-विभाजन तथा नामकरण में किसी ने केवल 'काव्य-प्रवृत्तियों' को देखा है, तो किसी ने उसके निरन्तर होते रहने वाले 'प्रवाह' को। किसी की दृष्टि 'प्रधान रस' और 'युग-धर्म' पर टिकी है, किसी ने भाषा को अपनाया तो किसी ने युग-प्रभाव को। हिंदी साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत मानी जाने वाली वार्ता-रचनाओं और प्रथम इतिहास गार्सा-द-तासी के इतिहास में इस बात का उल्लेख ही नहीं किया। जार्ज ग्रियर्सन जिन्होंने अपने समय के हिंदी साहित्य के इतिहास को 12 अध्यायों में बाँटा है और कुछ की कालावधि भी दी है चारणकाल 700-1400 ई., ब्रज का कृष्णकाव्य 1500-1600 ई., रीतिकाल 1580-1692 ई., तुलसीदास के अन्य परवर्ती काव्य 1600-1700 ई. आदि। निःसन्देह ये सभी शीर्षक निबंधात्मक हैं। दूसरे इनका कोई सुनिश्चित आकार भी नहीं है। ये किसी भी कालविशेष का प्रतिनिधित्व नहीं करते। कुछ शीर्षक एकदम कालावधि शून्य हैं, काल विशेष का सम्यक प्रतिनिधित्व नहीं करते। जैसे-मलिक मुहम्मद जायसी का प्रेम काव्य, तुलसीदास तथा विविध अज्ञात कवि, तो कुछ एकदम काल-नाम पर ही हैं। हिंदी साहित्य का सम्भवतः सर्वाधिक बड़ा विभाजन और नामकरण करने वाले हैं-मिश्रबंधु। उन्होंने अपने ग्रंथ 'मिश्र बंधु विनोद' में समस्त हिंदी साहित्य के 6 काल बताए हैं-

1. प्रारम्भिक काल संवत् 700-1444 ई.
2. माध्यमिक काल संवत् 1445-1680 ई.
3. अलंकृत काल संवत् 1681-1889 ई.
4. अज्ञातकाल
5. परिवर्तनकाल संवत् 1890-1925 ई.
6. वर्तमान काल संवत् 1926 ई. से - अब तक

उपर्युक्त भेदों में से भी उन्होंने प्रत्येक काल के कई उपभेद किए हैं, वह भी विविध आधारों पर। निःसन्देह निश्चित आधारों का अभाव, असंगत मानदण्डों का असंगत प्रयोग, पुनर्नवृत्ति आदि दोषों से भरपूर उपर्युक्त विभाजन एकदम अधकचरा और अधूरा बनकर रहा गया है। इसी प्रकार के असफल विभाजन और नामकरण 'श्री रामनेरश त्रिपाठी, वियोगीहरि' आदि ने किए हैं। डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त ने हिंदी साहित्य का सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन कर नवीन तथा वैज्ञानिक ढंग से हिंदी साहित्य का काल-विभाजन किया है

1. प्रारम्भिक काल-सन् 1184-1350 ई.
2. पूर्व-मध्यकाल- सन् 1350-1600 ई.
3. उत्तर मध्यकाल-सन् 1600-1857 ई.
4. आधुनिक काल-सन् 1857. से अब तक

डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त का काल-विभाजन यद्यपि स्पष्ट और व्यापक है, परन्तु यह भ्रमित करने वाला प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने आदिकाल में दो परंपराएं प्रतिपादित की हैं-

धार्मिक रास-काव्य परंपरा तथा संत काव्य परंपरा और मध्यकाल में 11 परंपराएं

1 धर्माश्रय में

- (1) संत-काव्य परम्परा

- (2) पौराणिक रीति-परम्परा
- (3) पौराणिक प्रबंध-काव्य परम्परा
- (4) रसिक भक्ति-काव्य परम्परा

2 राज्याश्रय में

- (1) मैथिली गीति परम्परा
- (2) ऐतिहासिक रास-काव्य परम्परा
- (3) ऐतिहासिक मुक्तक परम्परा
- (4) ऐतिहासिक-चरित्र काव्य परम्परा
- (5) शास्त्रीय मुक्तक परम्परा

3 लोकाश्रय में

- (1) रोमांटिक कथा-काव्य परम्परा
- (2) स्वच्छंद प्रेम-काव्य परम्परा

आधुनिक काल को उन्होंने पाँच भागों में विभक्त किया है-

- 1 भारतेन्दुयुग-सन् 1857-1900 ई.
- 2 द्विवेदी युग-सन् 1900-1920 ई.
- 3 छायावादी युग-सन् 1920-1937 ई.
- 4 प्रगतिवाद युग-सन् 1937.1945 ई.
- 5 प्रयोग युग-सन् 1945.1965 ई.

डॉ. नगेन्द्र ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए तथा ऐतिहासिक कालक्रमव साहित्यिक विद्या दोनों का आधार ग्रहण करते हुए हिंदी साहित्य का काल-विभाजन एवं नामकरण इस प्रकार किया है-

- 1 आदिकाल-सन् 650 से 1350 ई.
- 2 भक्तिकाल-सन् 1350 से 1650 ई.
- 3 रीतिकाल-सन् 1650 से 1850 ई.

3 आधुनिक काल-सन् 1850 ई. से अब तक

- 1 पुनर्जागरण काल (भारतेन्दुकाल) सन् 1857-1900 ई.
- 2 जागरण सुधारकाल (द्विवेदीकाल) सन् 1900-1918 ई.
- 3 छायावाद काल सन् 1918-1938 ई.

4 छायावादोत्तर काल:

- (1) प्रगति-प्रयोगकाल (सन् 1938-1953)

(2) नवलेखन—काल (सन् 1953 अब तक)

डॉ. नगेन्द्र का काल—विभाजन आचार्य शुक्ल और डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार ही रहा है। अन्तर केवल इतना है कि डॉ. नगेन्द्र ने आदिकाल का प्रारम्भ सातवीं शती के मध्य से माना है। जबकि शुक्ल ने 1050 ई. से तथा आचार्य द्विवेदी ने 10 वीं शती से विभिन्न विद्वानों के विचारों का मंथन करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिंदी साहित्य के काल विभाजन के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद रहा है। अब तक की प्राप्त सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा डॉ. नगेन्द्र का काल—विभाजन अधिक स्पष्ट, वैज्ञानिक और सुव्यवस्थित रहा है। इन तीनों के समन्वयात्मक रूप को ही हमें स्वीकार करना चाहिए। अतः हिंदी साहित्य के इतिहास को निम्नलिखित चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। विद्वानों ने भी इस काल विभाजन को उपयुक्त माना है।

- 1 आदिकाल—संवत् 1050 से 1375 विक्रम
- 2 भक्तिकाल—संवत् 1375 से 1700 विक्रम
- 3 रीतिकाल—संवत् 1700 से 1900 विक्रम
- 4 आधुनिककाल—संवत् 1900 से अब तक

अनेक विद्वानों ने हिंदी साहित्येतिहास के अन्तर्गत हिंदी साहित्य का काल—विभाजन एवं नामकरण किया है, लेकिन हिंदी साहित्य का वास्तविक काल—विभाजन एवं नामकरण करने वालों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का नाम ही प्रमुख रहा है। आधुनिक काल में साहित्य की नई—नई प्रवृत्तियाँ विकसित हो रही हैं; साथ ही अनेकानेक प्राचीन ग्रन्थ भी खोजे जा रहे हैं। इस प्रकार आज भी विद्वानों के बीच इस नामकरण की आवश्यकता बनी हुई है।

1.7 सारांश

उपर्युक्त विवरण से विद्यार्थियों एवं पाठकों की अनेक शंकाओं का निवारण हो सकेगा। इतिहास क्या है? साहित्य और इतिहास का क्या अंतर्संबंध है? तथा साहित्य व इतिहास की मूलअवधारणा क्या है? इसका परिचय भी प्राप्त हो सकेगा। इतिहास मात्र अतीत का ब्यौरा नहीं है। यह शंका भी दूर हो सकेगी। साथ ही साहित्येतिहास लेखन के विविध पक्षों की जानकारी भी पाठकों को हो सकेगी। साहित्येतिहास लेखन की विभिन्न पद्धतियों को समझकर यह निर्धारित करना कि कौन सी पद्धति श्रेष्ठ है। यह भी इस इकाई का मूल उद्देश्य है। इतिहासकार सामग्री का संकलन कर। किस प्रकार उसे काल खंडों में निर्धारित करता हैं। इससे भी विद्यार्थी परिचित हो सकेंगे। वह युग प्रवृत्तियों परंपरा के आधार पर वर्तमान संदर्भ में मूल्यांकन करता है। साहित्येतिहास लेखन की परंपरा जो गार्सादतासी से प्रारंभ होकर रामविलास शर्मा तक चली है। इन सबका परिचय भी हो सकेगा। साहित्य के इतिहास लेखन के क्रम में आने वाली समस्याओं के बारे में विद्यार्थी जान पाएंगे और उनका निवारण भी कर सकेंगे।

प्रस्तुत इकाई के माध्यम से हमने काल—विभाजन एवं नामकरण की समस्या के विषय में जाना। इसके अध्ययन से हम यह समझ सकते हैं कि काल—विभाजन व नामकरण की आवश्यकता न केवल अध्ययन की सुविधा के लिए है वरन इतिहास को यथा तथ्य समझने के लिए भी है। वस्तुतः काल—विभाजन व नामकरण करते समय प्रायः साहित्यिक प्रवृत्ति को आधार बनाया जाता है तथा ऐसा न होने पर राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं व्यक्तिपरक आधारों को भी अपनाया जा सकता है। इन्हीं आधारों का व्यापक मूल्यांकन करने पर हिंदी साहित्य के इतिहास को हम चार भागों— आदिकाल, पूर्वमध्यकाल, उत्तरमध्यकाल और आधुनिककाल में बांट पाए। यही क्रमशः आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल एवं आधुनिककाल कहलाए। इनका व्यापक अध्ययन आगे की इकाइयों में करेंगे।

1.8 मुख्य शब्दावली

1. अप्रमाणिक – जिसका कोई प्रमाण न हो
2. आधारहीन – जिसका कोई आधार न हो
3. इतिहासकार – इतिहास लिखने वाला
4. साहित्येतिहास – साहित्य का इतिहास
5. वीरगाथाकाल – वीरता प्रधान विचारों से युक्त काव्य

1.9 अभ्यास हेतु प्रश्न

1. हिंदी साहित्य के इतिहासदर्शन की विवेचना कीजिए।
2. हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन हेतु आधारभूत सामग्री एवं परंपरा का उल्लेख कीजिए।
3. हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा पर प्रकाश डालिए।
4. साहित्य के इतिहास लेखन की विभिन्न पद्धतियाँ बताइए।
5. हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की समस्या पर प्रकाश डालिए।
6. हिंदी साहित्य के काल विभाजन को लेकर किए प्रयासों की विवेचना कीजिए।
7. हिंदी साहित्य के नामकरण की समस्या पर प्रकाश डालिए।
8. हिंदी साहित्य के कालों के नामकरण के विभिन्न प्रयासों का उल्लेख कीजिए।
9. काल-विभाजन एवं नामकरण की आवश्यकता क्यों है? स्पष्ट कीजिए।
10. हिंदी साहित्य के आदिकाल के नामकरण का आधार क्या है? स्पष्ट कीजिए।

1.10 आप ये भी पढ़ सकते हैं

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल – हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
2. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी – हिंदी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2008
3. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी – हिंदी साहित्य का आदिकाल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2014
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – हिंदी साहित्य का इतिहास (दो खण्ड)
5. बच्चन सिंह – हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
6. नामवर सिंह – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2018
7. नगेन्द्र – रीतिकाव्य की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
8. बच्चन सिंह – आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास
9. रामविलास शर्मा – लोकजागरण और हिंदी सौन्दर्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

हिंदी साहित्य का आदिकाल

- 2.0 परिचय
 - 2.1 इकाई के उद्देश्य
 - 2.2 आदिकाल का स्वरूप
 - 2.3 आदिकालनामकरण और सीमा
 - 2.4 आदिकालीन परिवेश: ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक
 - 2.5 आदिकालीन कविता की प्रवृत्तियाँ
 - 2.6 रासो काव्य—परंपरा
 - 2.7 पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता
 - 2.8 सारांश
 - 2.9 मुख्य शब्दावली
 - 2.10 अभ्यास हेतु प्रश्न
 - 2.11 आप ये भी पढ़ सकते हैं
-

इकाई-2 : हिंदी साहित्य का आदिकाल

2.0 परिचय –

हिंदी साहित्य का प्रारंभिक काल जिसे आदिकाल, वीरगाथा काल, चारण काल, सिद्ध सामंत काल आदि अनेक संज्ञाओं से विभूषित किया गया है—हिंदी का सबसे अधिक विवादाग्रस्त काल है। शायद ही भारत के साहित्य के इतिहास में इतने विरोधों स्वतोव्याघातों का युग कभी आया होगा। आदिकाल में एक तरफ तो संस्कृत के ऐसे बड़े-बड़े कवि उत्पन्न हुए जिनका रचनाएँ अलंकृत काव्य परम्परा की चरम सीमा पर पहुंच गई थीं और दूसरी ओर अपभ्रंश के कवि हुए जो अत्यंत संक्षिप्त शब्दों में अपने मार्मिक भाव प्रकट करते थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान ने भी इस काल की कहानी को स्पष्ट करने का प्रयत्न बहुत दिनों से किया जा रहा है तथापि उसका चेहरा अब भी अस्पष्ट ही रह गया है।”

आदिकाल में साहित्य की शृंगार, भक्ति, वीर तथा ऐतिहासिक, लौकिक, धार्मिक एवं सामाजिक आदि कई प्रवृत्तियाँ एक साथ मिलती हैं। इन सभी प्रवृत्तियों के निर्माण विकास तथा परिवर्तन—संवर्द्धन में बहुत—सी परिस्थितियों—परिस्थितियों ने अपना योगदान दिया है। साहित्य को प्रभावित करते हुए कभी ये परिस्थितियाँ उसकी विकास दिशा को प्रशस्त करती रही हैं, तो कभी साहित्यकार एवं साहित्य के मूल्यवान संदेश से प्रेरणा ग्रहण कर सजती—संवरती रही हैं। अपभ्रंश साहित्य की आठवीं से चौदही शती तक अविरल गति से बहती धारा कैसे आदिकालीन साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों में घुलमिल गई तथा परिस्थितियों ने कैसे शृंगार, वीर या भक्ति धाराओं को विकसित किया रासो काव्य धारा या अन्य लौकिक—ऐतिहासिक और धार्मिक आदि साहित्य ग्रंथों के निर्माण में युगीन परिवेश और परिस्थितियों ने क्या-क्या भूमिका निभाई? ये परिस्थितियाँ साहित्य की उन प्रवृत्तियों में

कहाँ—कहाँ और किस रूप में दृष्टिगोचर होती है। इस विषय पर विचार आवश्यक है। किंतु सर्वप्रथम आदिकाल के स्वरूप की समीक्षा करनी जरूरी है।

प्रस्तुत इकाई में हम हिंदी साहित्य के प्रारंभिक काल 'आदिकाल' का अध्ययन करेंगे। हिंदी साहित्य के आदिकाल का अपार महत्व है। यह काल परस्पर विरोधी चिंतन धाराओं को समेटे हुए हैं। इस काल में परिस्थितियों, भाषाओं, प्रवृत्तियों और विचारधाराओं का समन्वय है।

2.1 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप —

1. आदिकाल का अर्थ, स्वरूप एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझ पाएंगे;
2. आदिकाल के नामकरण की समीक्षा कर सकेंगे;
3. आदिकालीन राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों से अवगत हो पाएंगे
4. आदिकालीन जैन, सिद्ध, रासो साहित्य के साथ-साथ अपभ्रंश साहित्य की रचना-प्रक्रिया को जान पाएंगे
5. आदिकालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों को जान सकेंगे।

2.2 आदिकाल का स्वरूप

हिंदी साहित्य के आरंभिक काल को आदिकाल कहा जाता है। वैसे आदिकाल के स्वरूप को बांधना या जानना उतना सहज नहीं है, क्योंकि यह वह कालखंड है जिसमें कई परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ सामने आईं, जहां राजनीतिक दृष्टि से उथल-पुथल, विदेश आक्रमण तथा दो-दो संस्कृतियों के मिलन का स्वरूप है। सामाजिक रूप से विभिन्न धर्म-संप्रदायों, दर्शन एवं संस्कृतियों का फैलाव इस काल में था। "जन सामान्य को आकर्षित-भ्रमित करते टोने-टोट के, तंत्र-तंत्र चमत्कार और जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त, सिद्ध एवं नाथ आदि कई धार्मिक सम्प्रदायों की बहुत-सी प्रवृत्तियाँ भी इस युग के समग्र साहित्य में देखी जाती हैं, जिनमें अन्तराल भी है और विरोध भी।

उक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि आदिकालीन साहित्य के नामकरण तो भिन्न-भिन्न प्रस्तावित हुए किन्तु समय-सीमा में विशेष अंतर नहीं दिखाई देता। वैसे भी सर्वाधिक स्वीकृत नाम 'आदिकाल' ही रहा है। यद्यपि यह नाम भी इस काल की सम्पूर्ण साहित्यिक प्रवृत्तियों तथा लोक-चितवृत्तियों को प्रतिबिंबित नहीं करता किन्तु यह स्पष्ट ही है कि "प्रारम्भ काल" के नाम पर इसमें सभी कुछ समाहित हो जाता है। सभी परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ विशेषताएँ तथा काल-धाराएँ इसमें सहज ही समा जाती हैं। स्वयं शुक्ल जी ने भी यह स्वीकार है। अतः समय सीमा और नामकरण के इस समग्र विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि अधिकांश विद्वानों-साहित्य समाज द्वारा स्वीकृत नाम आदिकाल ही प्रमाणित एवं समर्थ नाम है। किसी साहित्यिक प्रवृत्ति तथा लोकचितवृत्ति को प्रतिबिंबित न करके भी यही नाम स्वीकृत किया जा सकता है।

2.3 आदिकाल नामकरण और सीमा

हिंदी साहित्य के इतिहास के विवादास्पद प्रसंगों में एक हिंदी साहित्य के आदिकाल का भी प्रसंग रहा है। हिंदी साहित्य के इतिहास के अनेक विद्वान लेखकों ने इस संबंध में अपने-अपने मत प्रस्तुत किए हैं। हिंदी साहित्य के विधिवत इतिहास लेखन से पूर्व 'भक्तमाल' 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' 'दो सौ वैष्णव की वार्ता' आदि कतिपय कविवर संग्रह दो लिखे गए जिनमें काल-विभाजन और नामकरण की खोज की ओर कोई दृष्टि नहीं गई। कुछ विद्वान इसे वीरगाथात्मक रचनाओं की प्रधानता के कारण इसे वीरगाथाकाल कहने के पक्ष में है, लेकिन सिद्धों और

नाथों की रचनाएँ इस परिधि में नहीं आ सकती। अतः 'वीरगाथाकाल' न कहकर कुछ ने इसे आदिकाल कहा है, तो किसी ने बीजवपन काल।

1. वीरगाथाकाल – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रारम्भिक युग के साहित्य को दो कोटियों—अपभ्रंश और देशभाषा में बाँटा है। उनके मत में सिद्धों और योगियों की रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई संबंध नहीं, वे साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं। अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आती और जो साहित्य की कोटि में गिनी जा सकी हैं वे कुछ फुटकर रचनाएँ हैं, जिनसे कोई विशेष प्रवृत्ति स्पष्ट नहीं होती है। उनके मत में तत्कालीन साहित्यिक रचनाओं में से केवल 'खुसरो की पहेलियाँ', 'विद्यापति की पदावली' तथा 'बीसलदेव रासो' को छोड़कर सभी रचनाएँ वीरगाथात्मक हैं। इस युग में राज्याश्रित कवि अपने आश्रयदाता राजा की वीरता का यशोगान तथा उन्हें युद्धों के लिए उकसाने का काम करते थे। इसलिए उन रचनाओं को राजकीय पुस्तकालयों में रखा जाता था। लेकिन बाद में साहित्य संबंधी जो खोज की गई उसके अनुसार शुक्ल ने जिन रचनाओं के आधार पर इस काल का नाम 'वीरगाथाकाल' रखा है, उनमें से अधिकतर बाद की रचनाएँ हैं और कुछ सूचना मात्र हैं। शुक्ल ने जिन बारह रचनाओं के आधार पर विवेच्य काल का नामकरण वीरगाथाकाल किया है, वे हैं—(i) विजयपाल रासो—नल्हसिंह, (ii) हम्मीर रासो—शार्ङ्गधर (iii) कीर्तिलता—विद्यापति (iv) कीर्तिपताका—विद्यापति (v) खुमानरासो—दलपति विजय (vi) बीसलदेवरासो—नरपति नाल्ह (vii) पृथ्वीराजरासो—चन्द्रबरदाई (viii) जयचन्द्रप्रकाश—भट्टकेदार (ix) विद्यापति की पदावली (x) परमाल रासो—जगनिक (xi) खुसरो की पहेलियाँ और (xii) जयमंथक जस चन्द्रिका—मधुकर। इन रचनाओं में से अधिकतर रचनाएं अप्रामाणिक एवं सूचना मात्र हैं। खुमानरासो को शुक्ल ने पुराना माना था जबकि मोतीलाल मेनारिया ने इसका रचना काल समत् 1730 विक्रम और समत् 1760 विक्रम के बीच का माना है। इसी प्रकार से 'बीसलदेव रासो' भी सन्देहास्पद है। शुक्ल ने भी इस ग्रंथ को कोई महत्त्व नहीं दिया।

'पृथ्वीराज रासो' भी अप्रामाणिक रचना है। जगनिक काव्य प्रचलित गीतों के रूप में है, अतः इसे भी सूचना मात्र ही समझना चाहिए। 'हम्मीररासो' तथा भट्ट के द्वारा कृत 'जयचन्द्र प्रकाश' आदि रचनाएं भी सूचना मात्र हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जिन ग्रन्थों के आधार पर इनका नाम 'वीरगाथाकाल' रखा गया, वे या तो सूचना मात्र हैं या बाद में लिखे हुए हैं। दूसरे, शुक्ल ने धार्मिक—साहित्य को उपदेशप्रधान मानकर साहित्य की कोटि में नहीं रखा, किन्तु जिस धार्मिक साहित्य में प्रेरक शक्ति हो और जो रचनाएँ मानव—मन को आन्दोलित करने में समर्थ हो उनका साहित्यिक महत्त्व नकारा नहीं जा सकता। इस दृष्टि से अपभ्रंश की कई रचनाएँ, जो धर्म—भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं, निस्सन्देह उत्तमकाव्य हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत में धार्मिक प्रेरणा या अध्यात्मिक उपदेश को काव्यत्व के लिए बाधक नहीं समझना चाहिए। धार्मिक होने से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा मानकर चला जाये तो तुलसी का 'मानस' और जायसी का 'पद्मावत' भी साहित्य की सीमा में प्रविष्ट नहीं हो सकेंगे। 'भविष्यत कथा' (धनपाल) धार्मिक कथा है, लेकिन इस जैसा सुन्दर काव्य उस युग में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है। संक्षेप में कहा जायेगा कि सभी धार्मिक पुस्तकों को साहित्य के इतिहास में से नहीं हटाया जा सकता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तत्कालीन उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही नामकरण किया था। नवीनतम खोजों में जो ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, उनकी प्रवृत्तियों को भी नामकरण निर्धारित करते समय ध्यान में रखना होगा। मोतीलाल मेनारिया का मत रहा है कि जिन रचनाओं के आधार पर 'वीरगाथाकाल' नाम रखा गया है वे किसी विशेष प्रवृत्ति को स्पष्ट नहीं करते, बल्कि चारण—भाट आदि वर्ग विशेष की मनोवृत्ति को ही स्पष्ट करते हैं। यदि इनकी रचनाओं के आधार पर किसी काल का नाम 'वीरगाथाकाल' रखा जाए तो राजस्थान में आज भी वीरगाथाकाल ही है, क्योंकि ये लोग आज भी उत्साह से काम कर रहे हैं।

2. अपभ्रंश काल— चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और धीरेन्द्र वर्मा ने हिंदी साहित्य के आदिकाल को 'अपभ्रंश काल' की संज्ञा दी है। आदिकाल के साहित्य में अपभ्रंश भाषा की प्रधानता स्वीकारते हुए उन्होंने इस काल को 'अपभ्रंश काल' कहना अधिक समीचीन समझा है। भाषा के आधार पर साहित्य के इतिहास में काल-विभाजन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। साहित्य के किसी भी काल का नामकरण उस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों अथवा प्रतिपाद्य विषय के आधार पर उचित समझा जाता है। 'अपभ्रंश काल' यह नाम भ्रामक भी सिद्ध होता है क्योंकि इसमें श्रोता या पाठक का ध्यान हिंदी साहित्य की ओर न जाकर अपभ्रंश साहित्य की ओर आकृष्ट होता है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से भी अपभ्रंश और हिंदी दो अलग-अलग भाषाएँ हैं। इसलिए पुरानी हिंदी को अपभ्रंश कहना भी उचित नहीं है।

3. संधिकाल और चारण काल — डॉ. रामकुमार वर्मा ने हिंदी साहित्य के इस प्रारंभिक काल को 'संधिकाल' और 'चारणकाल' इन दो नामों से अभिहित किया है। उनकी सम्मति में हिंदी भाषा का विकास अपभ्रंश से हुआ है किन्तु अपभ्रंश से एक पृथक भाषा के रूप में विकसित होने से पूर्व हिंदी भाषा एक ऐसी स्थिति में भी रही होगी जिसमें वह अपभ्रंश के प्रभावों से सर्वथा मुक्त न हो सकी होगी। अपभ्रंश भाषा के अंत और हिंदी भाषा के आरम्भ की इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए डॉ. वर्मा ने 'संधिकाल' की कल्पना की है। हिंदी साहित्य के जिस काल को आचार्य शुक्ल ने 'वीरगाथाकाल' कहा है, वहीं पर डॉ. वर्मा उसे 'चारण काल' कहना उपयुक्त समझते हैं।

4. सिद्ध सामन्त काल— विषय वस्तु की दृष्टि से महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने इस युग के लिए 'सिद्ध सामन्त युग' नाम प्रेषित किया है। प्रस्तुत नामकरण बहुत दूर तक तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। इस काल के साहित्य में सिद्धों द्वारा लिखा गया धार्मिक साहित्य ही प्रधान है। सामन्तकाल में 'सामन्त' शब्द से उस समय की राजनैतिक स्थिति का पता चलता है और अधिकांश चारण-जाति के कवियों की राजस्तुतिपरक रचनाओं के प्रेरणा स्रोत का भी पता चलता है। लेकिन इस 'सिद्ध सामन्त युग' में सभी धार्मिक और साम्प्रदायिक तथा लौकिक रचनाएँ नहीं आती। राहुल सांस्कृत्यायन अपभ्रंश और पुरानी हिंदी को एक ही मानते हैं, साथ ही इस युग की रचनाओं को मराठी, उड़िया, बंगला आदि भाषाओं की सम्मिलित निधि स्वीकार करते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'सिद्ध सामन्त युग' नाम भी साहित्य के लिए उपयुक्त नाम नहीं है।

5. बीजवपन काल: आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इसे बीजवपन काल कहा है। तत्कालीन साहित्य को देखकर यह नाम भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उसमें पूर्ववर्ती सभी काव्य रूढ़ियों तथा परम्पराओं का सफलतापूर्वक निर्वाह हुआ है और उसके साथ कुछ नवीन प्रवृत्तियों का जन्म हुआ है।

6. आदिकाल: आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसका नाम 'आदिकाल' सुझाया है। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है—'वस्तुतः हिंदी का 'आदिकाल' शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम भावापन्न, परम्परा-विनिर्मुक्त, काव्य रूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है, यह बात ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी, रूढ़िग्रस्त और सजग-सचेत कवियों का काल है।

वस्तुतः हिंदी साहित्य के आदिकाल के नामकरण का विषय अत्यन्त उलझा हुआ है। जब तक हिंदी की पूर्ण-सीमा निर्धारण नहीं की जाती और जब तक उपलब्ध साहित्य की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता के प्रश्न का समाधान नहीं हो पाता; तब तक किसी निश्चय पर पहुँचना सहज नहीं है। अन्त में कहा जा सकता है कि किसी निश्चित मत के अभाव में प्रस्तुत काल का नामकरण 'आदिकाल' ही अधिक संगत प्रतीत होता है। यह नाम सर्वाधिक प्रचलित हो गया है।

आदिकाल सीमांकन:

प्रस्तुत काल के साहित्य की पूर्वतर सीमा को निर्धारित करने का विचार भी कुछ कम विवादास्पद नहीं है। आचार्य

शुक्ल ने इस काल का आरम्भ समत् 1050 विक्रम और अन्त संवत् 1375 (993 से 1318 ई.) माना है। महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने 8 वीं शती की अपभ्रंशों को पुरानी हिंदी कह कर अपने सिद्ध सामन्त युग का आरम्भ इसी काल से मान लिया और इस काल की समय सीमा 13 वीं शती मानी। डॉ. ग्रियर्सन ने आदिकाल की अन्तिम सीमा 1400 ई. तक मानी है। मिश्र बंधुओं ने एतदर्थ 1389 ई. का वर्ष स्वीकार किया है। डॉ. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' इसे 1343 ई. तक ले गये हैं। अधिकांश इतिहासकार शुक्ल जी से सहमत हैं। यह ठीक है कि शुक्ल ने विद्यापति को आदिकाल के अन्तर्गत रखा है, पर विद्यापति का रचना काल 1375 ई. से 1418 ई. के मध्य माना जाता है और इस दृष्टि से आदिकाल की अन्तिम सीमा 1418 ई. निर्धारित की जा सकती है, किन्तु यह बात इतिहास समय-सीमा से मेल नहीं करती। भक्तिकाल में जिन प्रवृत्तियों का विकास हुआ, उनकी भूमिका विद्यापति के पूर्व ही पूर्ण हो चुकी थी। अतः विद्यापति को भक्तिकाल में रखकर चौदहवीं शताब्दी के मध्य को आदिकाल की अन्तिम सीमा मानना ही समीचीन होगा। दूसरे शब्दों में, शुक्ल द्वारा निर्धारित 1318 ई. के बाद भी तीन शताब्दी तक आदिकालीन साहित्य सामग्री का प्रसार माना जा सकता है। अतः हिंदी साहित्य के इतिहास के सीमांकन को हम निम्नलिखित रूपों में बांट सकते हैं—

1. आदिकाल सन् 1000—1400 ई.
2. मध्यकाल सन् 1400—1850 ई.
 - (1) पूर्वमध्यकाल (भक्ति साहित्य) सन् 1400—1650 ई.
 - (2) उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल) सन् 1650—1850 ई.
3. आधुनिक काल सन् 1850 से अब तक।
 - (1) हिंदी गद्य (आरम्भ) सन् 1850—1857 ई.
 - (2) भारतेन्दुकाल (पुनर्जागरण) सन् 1857—1900 ई.
 - (3) द्विवेदीकाल—जागरण—सुधारकाल सन् 1900—1918 ई.
4. छायावाद काल सन् 1918—1936 ई.
5. छायावादोत्तर काल सन् 1936 से अब तक
 - (1) प्रगतिवाद सन् 1936 से 1942 ई. तक
 - (2) प्रयोगवाद नयी कविता सन् 1942—1953 ई.
 - (3) नवलेखन काल सन् 1953 से अब तक

2.4 आदिकालीन परिवेश

प्रत्येक काल के परिवेश की अपनी पहचान होती है। समय परिवर्तन के साथपरिवेश में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। — अधिकांश विद्वान आदिकाल की समय सीमा संवत् 1050 से संवत् 1375 स्वीकार करते हैं, परन्तु अनेक विद्वान ऐसे भी हैं जो मानते हैं कि आदिकाल साहित्य का अविर्भाव सातवीं सदी में हुआ। इसलिए जब हम आदिकालीन परिस्थितियों की चर्चा करते हैं तो 7वीं सदी से 14वीं सदी तक की परिस्थितियों की चर्चा की जाती है।

साहित्य का मूल उत्स जीवन है और विभिन्न प्रकार की सामयिक स्थितियां—परिस्थितियां तथा परिवेश के घटनाचक्र मिलकर जीवन के सद-असद् रूपों का सृजन करते हैं। इसलिए कहा जाता है कि साहित्य अगर लोक-चेतना का संवाहक है तो लोक-चेतना युग-विशेष की राजनीति, धर्म, दर्शन संस्कृति तथा वैचारिक पृष्ठभूमि

को प्रभावित करती है। यही परिस्थितियाँ साहित्यकार को साहित्य-रचना हेतु प्रेरणा देती हैं। इन्हीं तथ्य को ध्यान में रखते हुए आदिकाल की परिस्थितियों पर विचार आवश्यक है –

1 ऐतिहासिक परिवेश – हिंदी साहित्य का जन्म ऐसे समय हुआ जब भारत पर मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हो गए थे। सम्राट हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् देश में एक छत्र शासन का अभाव हो गया। राष्ट्र छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया। इन राजवंशों के परस्पर युद्ध कलह एवं विघटन से सामंत प्रथा को प्रोत्साहन मिला। निरंकुश शासन-प्रणाली से राजनीतिक चेतना और विदेशी आक्रमणकारियों से मुकाबला करने की शक्ति भी क्षीण होती चली गई। राष्ट्र बिखर गया। इन राज्यों के शासक आपस में मिथ्या शान और अभिमान में पड़कर लड़ने लगे। लड़ाईयों का प्रमुख उद्देश्य जर, जोरु और जमीन के लिए शौर्य प्रदर्शन ही होता था। यह साधारण-सा नियम बन गया था – “जाकी बिटिया सुंदर देखी, ता ऊपर जाइ धरितवारी।” कवि जगनिक ने निम्नलिखित पंक्तियों में क्षत्रिय के गुण गिना दिए –

‘बारह बरिस लौ कूकर जीवै, और तरेह लौ जिवे सियार।

बरिस अठारह छत्री जीवै, आगे जीवन को धिक्कार।।’

तात्पर्य यह है कि किसी न किसी बहाने राजाओं की तलवार म्यान से बाहर रहती थी। आदिकालीन युगमें चारों तरफ युद्धों का ही बोलबाला था। इसीलिए जीवन में कहीं भी संतुलन तथा शान्ति के दर्शन नहीं होते। इसी समय मोहम्मद गौरी ने भारत जीतने की लालसा से भारत पर अनेक आक्रमण किए। पृथ्वीराज चौहान उस समय अजमेर का शक्तिशाली राजा था। परन्तु विदेशी आक्रमण के प्रति विशेष जागरुक नहीं था। परिणाम स्वरूप कन्नौज के राजा जयचन्द के षडयन्त्र में फंस कर पृथ्वीराज चौहान मोहम्मद गौरी के हाथों पराजित हुआ और मारा गया। गौरी के पश्चात् कुतुबुद्दीन ऐबक ने भारत की सत्ता संभाली तथा लगभग सारे हिंदी प्रदेश पर राज्य किया आदिकाल की काल सीमा में शासन करने वाले तुर्क अफगानों से हुए युद्ध-वर्णन वहां उपलब्ध है। अराजकता, गृह-कलह, विद्रोह, आक्रमण और युद्ध के वातावरण में यदि एक कवि आध्यात्मिक जीवन की बातें करता था, तो दूसरा मरते-मरते भी जीवन रस भोगना चाहता था और एक कवि ऐसा भी था जो तलवार के गीत गाकर गर्व से जीना चाहता था। यद्यपि इस युग में विरोध करने वाले भी सर्वत्र थे परन्तु फिर भी मुस्लिम ध्वज प्रायः समस्त उत्तरी भारत में फहराने लगा।

आदिकाल के इस युद्ध प्रभावित जीवन में कहीं भी संतुलन नहीं था। अराजकता, गृह-कलह, विद्रोह, आक्रमण और युद्ध के वातावरण में सर्वत्र मारकाट का तांडव फैल चुका था। इस विषय में डॉ. राजनाथ शर्मा का कथन उल्लेखनीय है – “हिंदी साहित्य के आरंभिक काल के रासों ग्रंथ प्रधानतः, मध्यप्रदेश के समकालीन राजाओं के राज कवियों द्वारा रचे गए थे। प्रत्येक कवि अपने आश्रयदाता को सर्वश्रेष्ठ योद्धा सिद्ध करना चाहता था, अतः अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों की भरमार रही, जिसके फलस्वरूप यदि एक ओर स्त्री भोग, हठयोग से लेकर आध्यात्मिक पलायन और उपदेशों तक का साहित्य एक ओर लिखा गया, तो दूसरी ओर ईश्वर की लोक-कल्याणकारी सत्ता में विश्वास करने, लड़ते-लड़ते जीने और संसार को सरस बनाने की भावना भी साहित्य रचना के मूल में सन्निहित हुई।

2 सामाजिक परिवेश

आदिकालीन राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का देश की सामाजिक परिस्थितियों पर भी बहुत गहरा प्रभाव पड़ रहा था। जाति-व्यवस्था गुण और कर्म के आधार पर न होकर वर्ण के आधार पर निरूपित की गयी। एक जाति अनेक उपजातियों में विभक्त हो गई। अल्बेरूनी ने कहा है “उन्हें (हिन्दुओं) को इस बात की इच्छा नहीं होती कि जो वस्तु एक बार भ्रष्ट हो गयी है, उसे शुद्ध करके फिर ले लें। उस समय के रूढ़िग्रस्त धर्म के समान समाज भी

रुढ़िग्रस्त हो चुका था। नारियाँ भी शौर्य—प्रदर्शन में पुरुषों से कम न थी। जौहर उनके आत्म—बलिदान और शौर्य का प्रतीक था। राजाओं का जीवन विलास भरा था। उनका अधिकांश समय उपपत्नियों के साथ रंग रलियों में व्यतीत होता था। राजकुमारों को बचपन से ही राजनीति, तर्कशास्त्र, काव्यशास्त्र, नाटक, गणितशास्त्र एवं कामशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। नारियों के संबंध में तत्कालीन समाज की धारण अच्छी नहीं थी। उसे केवल भोग और विलास की सामग्री मात्र समझा गया। हिंदी के कवियों को जनता की इस स्थिति के अनुसार काव्य—रचना की सामग्री जुटानी पड़ी।

जिस युग में धर्म और राजनीति की दुर्दशा हो उसमें उच्च सामाजिकता की आशा नहीं की जा सकती है। डॉ नगेन्द्र लिखते हैं कि “जनता शासन तथा धर्म दोनों ओर से निराश्रित हो चुक थे। जनता भय तथा निरक्षरता के कारण ईश्वर की ओर दौड़ती थी, परन्तु सर्वत्र भ्रम और असहाय की ही स्थिति मिलती थी। जाति—पाति के बन्धन मजबूत हो चले थे। एक जाति की अनेक उपजातियाँ होने लगी। छुआछूत के नियम भी सख्त हो गए थे। उच्च वर्ग के लोग भोग करने के लिए तथा निम्न वर्ग के लोग जैसे काम करने के लिए ही पैदा हुए थे।” नारी तो केवल भोग की वस्तु मात्र रह गई थी। उसे खरीदा और बेचा भी जाने लगा था। सामान्यजन के लिए सुरक्षा व शिक्षा की कोई व्यवस्था ही नहीं थी। सती प्रथा भी उस समय के समाज का एक भयंकर अभिशाप थी। अनेक प्रकार के अन्धविश्वासों ने इस समाज को जकड़ लिया था। उस समय सर्वत्र वीरता और वंश—कुलीनता का बोलबाला था। वीरता और आत्मबलिदान राजपूत की विशेषता थी। स्वयंवर प्रथा उस युग की एक खास पहचान थी। राजपूत दृढ़—प्रतिज्ञे स्वामिभक्त, ईमानदार तथा कूटनीतिज्ञ और दूरदर्शी थे, परन्तु उनमें भोग—विलास के प्रति भी खूब आसक्ति थी। राजाओं का जीवन भी विलास प्रिय था। नृपति शासक वर्ग का अधिकांश समय अन्तःपुर में महिषियों, उपपत्नियों तथा रक्षिताओं के साथ रंग—रलियों में बीतता था। राजा बहुपत्नी थे।

3 सांस्कृतिक परिवेश

हिंदी साहित्य में आदिकाल का आरम्भ उस समय हुआ जब भारतीय संस्कृति अपने चरमोत्कर्ष पर थी। आदिकाल हिन्दू—मुस्लिम संस्कृतियों के परस्पर मिलन का काल है। हर्षवर्द्धन के समय हिन्दू संस्कृति प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति के शिखर पर थी। लोगों के आपसी भेद—भाव समाप्त हो गए थे तथा स्वाधीनता व देशभक्ति की भावना को प्रोत्साहन मिल रहा था। संगीत, चित्रमूर्ति एवं भवन—निर्माण इत्यादि कलाओं में ज्यादा रुचि दिखाई देने लगी थी, विशेष रूप से मन्दिरों व मस्जिदों का निर्माण धार्मिक सद्भावना का घोटक था। भुवनेश्वर, पुरी, खजुराहों, सोमनाथ, बेलोर काँची, तंजौर आदि स्थानों पर अनेक भव्य मन्दिरों का निर्माण आदिकाल के आरम्भ के समय ही बनाए गए थे। आबू का जैन मन्दिर ग्यारहवीं शताब्दी की महत्त्वपूर्ण देन है जो कि भारतीय स्थापत्य का बेमिसाल नमूना है। अरब इतिहासकार अलेबरुनी तथा महमूद गजनवी इन मन्दिरों की भव्यता, विशालता तथा भारतीय कलाओं में धार्मिक भावनाओं की ऐसी व्यापक अभिव्यक्ति को देखकर चकित रह गए थे। किन्तु देश के भाग्य की विडम्बना यह रही है कि शताब्दियों से श्रेष्ठता की साधना में तल्लीन महमूद गजनवी जैसे आक्रान्ताओं की विषयाकांक्षा का यह कोप—भाजन बन गया और शताब्दियों तक उस कोप से मुक्ति नहीं मिली।

अरब के देशों में आठवीं—नवीं शताब्दी में सूफी मत का उदय हो चुका था किन्तु आदिकाल के अन्त तक भी उसके उदार स्वरूप का प्रवेश तक न हो सका। क्योंकि भारत में जो आक्रान्ता आए, वे उदार भावनाओं के समर्थक नहीं थे। इसलिए इस्लाम संस्कृति का पोषक तत्त्व न बन सका। परिणामस्वरूप दो संस्कृतियाँ एक—दूसरे के सामने मानसिक तनाव की स्थिति में खड़ी एक—दूसरे को शंका की दृष्टि से देखती रहीं।

डॉ नगेन्द्र लिखते हैं कि “आदिकाल में भारतीय संस्कृति का जो स्वरूप मिलता है, वह परम्परागत गौरव से रहित तथा मुस्लिम संस्कृति के गहरे प्रभाव से निर्मित है। इस काल में हिन्दू—संस्कृति धीरे—धीरे मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित होने लगी। भारत के उत्सव, मेलों, त्यौहारों, वेश—भूषा विवाह तथा मनोरंजन आदि पर मुस्लिम रंग मिलने

लगा। यहाँ के गायन, वादन तथा नृत्य पर मुस्लिम छाप स्पष्ट है। भारतीय संगीत में सांरगी, तबला तथा अलगोजा जैसे वाद्यों का समावेश इसका स्पष्ट प्रमाण है। चित्रकला के क्षेत्र में इस काल में जो थोड़ा-बहुत कार्य हुआ, उस पर भी मुस्लिम प्रभाव पाया जाता है। मूर्तिकला को छोड़कर अन्य भारतीय ललित कलाओं में मुस्लिम कला की कलम गहरे रूप में लगी।”

4 साहित्यिक परिवेश

यह युग पास्परिक कलह एवं बाह्य संघर्षों का युग था पर संस्कृत साहित्य की रचना अबाध होती रही और ज्योतिष, दर्शन एवं स्मृति आदि विषयों पर टीकाएँ लिखी जाती रहीं। डॉ. रामगोपाल शर्मा ने लिखा है, कि इस काल में साहित्य-रचना की तीन धारयें बह रही थी। प्रथम संस्कृत साहित्य की थी, जो एक परम्परा के साथ विकसित होती जा रही थी। दूसरी धारा का साहित्य प्राकृत एवं अपभ्रंश में लिखा जा रहा था। तीसरी धारा हिंदी भाषा में लिखे जाने वाले साहित्य की थी। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, भोजदेव, राजशेखर, तथा जयदेव इसी युग की देन हैं। प्राकृत तथा अपभ्रंश के कवि धर्म-प्रचार में लगे हुए थे, साहित्य तत्त्व उनकी रचनाओं का सहायक अंग था। हिंदी इस काल की ऐसी भाषा थी जिसमें तत्कालीन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में मुखर हो रही थी।

ग्यारहवीं शती उत्तरार्द्ध साहित्य की दृष्टि से विकासशील थी। कर्ण के दरबार में अपभ्रंश कवियों का सम्मान था। जैन-भण्डारों में सुरक्षित ग्रन्थों की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश के निकट की है। उदाहरणार्थ, 'प्राकृत पैंगलम' की कई कविताओं में कर्ण की प्रशंसा की गई है। ये कविताएँ अपभ्रंश की हैं जो हिंदी के चारण कवियों की भाषा का पूर्णरूप है। इन कविताओं की भाषा सुथरी एवं साफ है। इस काल में दो श्रेणियों की रचनाएँ अपभ्रंश और देश्यामिश्रित रचनाएँ मिलती हैं। वे इस युग की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक अवस्था के अनुरूप ही हैं। इस काल में ब्रजयानी और सहजयानी सिद्धों, नाथपंथी योगियों, जैनधर्म के अनुयायी संत एवं मुनियों की रचनाएँ धार्मिक उपदेशपूर्ण शैली में मिलती हैं। वीरता तथा शृंगार का चित्रण करने वाले चारणों, भाटों आदि की रचनाएँ भी पर्याप्त मात्र में उपलब्ध हैं।

2.5 आदिकालीन कविता की प्रवृत्तियाँ

आदिकालीन काव्य की प्रवृत्तियों के बारे में जानने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि यह काल अनेक दृष्टियों से सन्धिकाल है। भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों से यह संक्रान्ति काल है। कथ्य की दृष्टि से आदिकालीन साहित्य कई परम्पराओं का स्रोत अवश्य है, किन्तु उनकी शक्ति और गम्भीरता हिंदी की अपनी देन है।

आदिकालीन हिंदी कविता की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने की सुविधा को ध्यान में रखते हुए इसे चार भागों में विभाजित किया जा सकता है।

- 1 विचारात्मक प्रवृत्तियाँ
- 2 वस्तुपरक प्रवृत्तियाँ
- 3 भावात्मक प्रवृत्तियाँ
- 4 शिल्पनात्मक प्रवृत्तियाँ

1. विचारात्मक प्रवृत्तियाँ

आध्यात्मिक क्षेत्र में ब्रह्म का निर्गुण और सगुण रूप – आध्यात्मिक क्षेत्र को परिपूरित करने के लिए इस काल के रचनाकारों ने ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप को मान्यता प्रदान की है। सिद्धों और नाथों तथा जैनियों ने ब्राह्मण

धर्म के विरोध में सगुण ब्रह्म के स्थान पर निर्गुण ब्रह्म को अपनाने का आग्रह किया है।

सिद्धों ने तंत्र और मंत्र को अपनाने का आग्रह किया है वही नाथों ने योग को महत्ता प्रदान की है। नाथों का योग सामान्य स्तर का नहीं है। चारण कवि चन्द्रबरदाई और श्रीकृष्ण के उपासक विद्यापति ने सगुण ब्रह्म की साधना के लिए भक्ति को अपनाने का आग्रह किया है। विद्यापति ने उमा-शिव को स्तुतिपरक पदों में पूजा है। शेष पदों में उन्होंने श्री कृष्ण को आराध्य माना है।

धार्मिक भावना— सिद्धों ने रूढ़ियों, पाखण्डों, मिथ्याचारों का खुलकर विरोध किया है। नाथों ने योगसाधना को महत्त्व दिया और इन चीजों एवं कार्यों का विरोध किया क्योंकि इनसे साधना में एकाग्रता नहीं आती, एकाग्रता आती है योग साधना के द्वारा। चारण कवियों, जैन कवियों और विद्यापति ने भी इन ब्राह्म आडम्बरों का विरोध किया और धर्म को लोक से और मानव से जोड़ने का सराहनीय कार्य किया।

साहित्यिक क्षेत्र— सिद्धों की रचनाओं एवं ग्रन्थों में प्रतीकों और उलटबासियों के माध्यम से रहस्यवाद उदघाटित हुआ है। वह संसार की व्यावहारिक भाषा में व्यक्त नहीं हो सकता। आत्मा और परमात्मा के मिलन की अभिव्यक्ति जहाँ सिद्धों ने प्रतीकों से की है, वहीं नाथों ने पारिभाषिक शब्दावलियों से। सिद्धों ने उलटबासियों का भी प्रयोग किया है।

2. वस्तुपरक प्रवृत्तियाँ

सामंतवादी स्थिति का आंकलन— सिद्धों नाथों ने सामंतवादी समाज और संस्कृति का आंकलन करते हुए अपने मत प्रस्तुत कर दिये हैं। उनका समाज से कुछ लेना-देना नहीं था। वे पहुँचे हुए साधक थे। जैन और चारण कवियों ने राजाओं के आश्रय में रहकर उनके समाज और संस्कृति को खुली आँखों से देखा था और उसे कविता में ढालने का प्रयास किया। इस वर्णन में सच्चाई का बखान अधिक था और काल्पनिकता कम दिखाई देती है।

युद्धों का वर्णन— सिद्धों नाथों ने न तो युद्धों को महत्त्व दिया है और न सामान्य जनजीवन को। इस कार्य में केवल चारण रचनाकार ही निपुण थे।

नारी के प्रति दृष्टिकोण— सिद्ध कवियों ने पहले तो नारियों की घुसपैठ का विरोध किया लेकिन बाद में तांत्रिक साधना के तहत इनको भी स्थान देना प्रारम्भ कर दिया। बाद में नैतिक बंधन इतने ढीले हो गये थे कि व्याभिचारपरक बातों का खुलासा होता चला गया।

प्रकृति का वर्णन— सिद्धों, नाथों ने प्रकृति को साधना का अंग नहीं बनने दिया। उन्होंने प्रकृति का प्रयोग कहीं-कहीं प्रतीक रूप में अवश्य किया है। जैन कवियों ने प्रकृति को नारी का प्रतीक माना है जो साधना में विघ्न पैदा करती है।

3. भावात्मक प्रवृत्तियाँ

विरह की अनुभूति— सिद्धों और नाथों ने साधना के स्तर पर विरह को महत्त्वपूर्ण माना है। आत्मा परमात्मा से अलग होकर जो दुःख की अनुभूति करती है उसे ही विरह कहा है। यह विरह आध्यात्मिक साधना का अंग बनकर इन रचनाओं में व्यक्त हुआ है। जैन कवियों की आध्यात्मिक रचनाओं में भी विरह का यही रूप मिलता है।

नारी रूप चित्रण— सिद्ध साहित्यकारों ने अन्त में भिक्षुणियों को प्रवेश दिलाकर नारी की उपस्थिति को दर्ज करा दिया है। इन नारियों के आगमन से भोग को स्थान मिला जिससे उसमें विकृतियाँ आ गयीं। इन विकृतियों के कारण ही इस साहित्य का विकास अवरूढ़ हो गया। नाथों ने नारियों से अपने-आप को दूर रखा। जैन कवियों ने साधना के क्षेत्र में साधियों के रूप में नारियों को प्रवेश दिलाकर उसे पथ भ्रष्ट कर दिया। स्त्री के विभिन्न अंगों के

स्पष्टीकरण के लिए इन कवियों ने प्राकृतिक उपमानों का भरपूर तरीके से उपयोग किया है। चारण कवियों की रचनाओं में नारीत्व चित्रण की प्रधानता देखी जा सकती है।

नायिका—भेद वर्णन— नायिका—भेद का मिश्रण रास ग्रंथों और मैथिली काव्य की एक विशेषता है। रास—ग्रंथों में जिन नायिकाओं को स्थान मिला है वे गृहस्थिक रूप में हैं। इन्हें ही शास्त्रीय परिपेक्ष्य में स्वकीया, नायिका कहा गया है। परकीया नायिका को विद्यापति ने विशेष महत्त्व प्रदान किया है।

4. शिल्पनात्मक प्रवृत्तियाँ

भाषिक प्रयोग— शिल्प एक प्रक्रिया है वह भी गतिशील जो कि रचना की सृजनात्मकता को सार्थकता प्रदान करती हैं। शिल्प का प्रयोग बहुत कुछ भाषा के रचाव पर निर्भर करता है। रचनाकार शिल्प को मध्य नजर रखकर लोक जीवन से उन सार्थक शब्दों का चुनाव करता है जो उनके वस्तुलोक और भावलोक को समृद्ध करते हैं। सिद्धो, नाथों, जैन कवियों, चारण कवियों आदि ने शब्दों का गठन इसी स्तर पर किया है।

छंद प्रयोग— सिद्धों की रचनाओं में सृजित चर्चागीत गेय पदों के रूप में प्रकट होते हैं।

प्रत्येक चर्चागीत के प्रारम्भ में किसी न किसी राग का उल्लेख मिलता है। इन चर्चा गीतों में मात्रिक छंदों का प्रयोग किया गया है।

अलंकार प्रयोग— सिद्धों की रचनाओं में अन्त्यानुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों का प्रयोग देखने में आता है। नाथ साहित्य में इन अलंकारों के अतिरिक्त श्लेष, वक्रोक्ति, प्रतीक, अपहनुति और उभयालंकार के उदाहरण भरे पड़े हैं। मैथिली साहित्य में शब्दालंकार के साथ अर्थालंकार का प्रयोग भी मिलता है। आदिकालीन काव्यगत प्रवृत्तियों का आंकलन इस प्रकार किया जा सकता है—

संदिग्ध प्रामाणिकता— भाषा शैली और विषय सामग्री की दृष्टि से इस काल की रचनाओं के संबंध में कहा जा सकता है कि इसमें निरन्तर कई शताब्दियों तक परिवर्तन होता रहा है। परिवर्तन का यह कार्य इतनी अधिक मात्रा में हुआ है कि इनका मूल रूप भी दब गया है। खुमान रासो में सोलहवीं शती की सामग्री का समावेश कर लिया गया है। पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता आज तक भी संदिग्ध है। इसी प्रकार बीसलदेव रासो, दरमाल रासो आदि की प्रामाणिकता भी संदेह के घेरे में है।

5. ऐतिहासिकता का अभाव

इन रचनाओं में इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तियों को लिया गया है, किन्तु उनका वर्णन शुद्ध इतिहास की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। डॉ. रामकुमार वर्मा का मानना है कि—“यद्यपि ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण भी उसमें प्राप्त होता है, पर उनका विस्तार और वर्णन कल्पना के सहारे ही किया जाता था, तिथि पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था।”

युद्धों का सजीव चित्रण— आदिकालीन कवि अपने आश्रयदाताओं के साथ युद्ध क्षेत्र में जाते और युद्ध करते थे। इसलिए इनके द्वारा वर्णित युद्ध—अत्यन्त सजीव, मार्मिक और यथार्थ बन पड़े हैं।

आश्रयदाताओं की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा— इस काल में अधिकांश साहित्य की रचना राज्याश्रित कवियों के द्वारा हुई है। कवियों ने अपने आश्रयदाता को ही सर्वश्रेष्ठ वीर, पराक्रमी सम्राट, अनुपम दानवीर, दृढ़प्रतिज्ञ सिद्ध कर उनका अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। डॉ. रामकुमार वर्मा के अनुसार, “कवि का आदर्श अधिकतर अपने चरित—नायक के गुण वर्णन तक ही सीमित रहता था।”

संकुचित राष्ट्रीयता— अपने आश्रयदाता को ही सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ मानने और घोषित करने के कारण ही इन कवियों की राष्ट्रीय भावना केवल अपने आश्रयदाता के छोटे—छोटे राज्यों की सीमाओं तक ही सिमटकर रह गयी

थी। वीरता का आदर्श रूप निम्न पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है—

बारह बरिस लौं कूकर जीयें, और तेरह लौं जिए सियार।

बरिस अठारह छत्री जीयें, आगे जीवन कौ धिक्कार।।

इन ग्रंथों में सामंती जीवन उभर आया है। कवि अपने आश्रयदाताओं की वीरता और रसिक-वृत्ति तक ही सीमित रहे हैं, इसलिए इनमें तत्कालीन जन-जीवन उपेक्षित रहा है।

6. काव्य के रूप

आदिकालीन रचनाएँ प्रबन्ध और मुक्तक दोनों रूपों में मिलती हैं। प्रथम वर्ग का सर्वाधिक प्राचीन उपलब्ध ग्रंथ है 'पृथ्वीराज रासो' और दूसरा ग्रंथ 'बीसलदेव रासो'। आदिकाल में हमें वीर गीत और वीर-प्रबन्ध काव्य दोनों प्रकार के ग्रंथ मिलते हैं।

वीर और शृंगार रस का सामंजस्य— आदिकालीन साहित्य में प्रायः वीर और शृंगार रस का सुन्दर सामंजस्य है। उस समय स्त्रियाँ ही प्रायः पारस्परिक वैमनस्य का कारण हुआ करती थी। इसलिए वीर गाथाओं में उनके रूप का वर्णन करना, कवियों को अभिष्ट था। युद्ध के समय ही नहीं, शांति के समय भी वीरों के विलास-प्रदर्शन में शृंगार का आकर्षण चित्रित किया गया है।

भाषाओं के विविध रूप— आदिकालीन रचनाओं के दो रूप ही प्रधान मिलते हैं— अपभ्रंश और अपभ्रंश प्रभावित पिंगल अतिरिक्त युद्ध वर्णनों में एक ऐसी भाषा के दर्शन होते हैं जिसे विद्वानों ने 'डिंगल' कहा है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने लिखा है, 'यह वीर रस के लिए बहुत उपयुक्त थी, इसलिए इसका प्रयोग इस काल में बड़ी सफलता के साथ हुआ।'

छंदों का बहुमुखी प्रयोग— छंदों का जितना बहुमुखी प्रयोग इस साहित्य में हुआ है, उतना इसके पूर्ववर्ती साहित्य में नहीं हुआ। दोहा, तोटक, तोमर, गाथा, गाहा, आर्या सट्टक, उल्लाला और कुंडलियाँ आदि छंदों का प्रयोग बड़ी कलात्मकता के साथ किया गया है। हजारीप्रसाद द्विवेदी, के अनुसार 'रासो के छंद जब बदलते हैं तो श्रोता के चित्त में प्रसंगानुकूल नवीन कम्पन्न उत्पन्न करते हैं।' निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आदिकालीन साहित्य अपभ्रंश साहित्य के समान्तर विकसित हुआ है। काव्य-शैलियों, काव्य रूपों आदि की विशाल परम्पराओं के अध्ययन की दृष्टि से इस काल के साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है।

2.6 रासो काव्य-परंपरा

'रासो-काव्य' के रचना-स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार की धाराणाओं को व्यक्त किया है।

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार बीसलदेव रासो में प्रयुक्त 'रसायन' शब्द ही कालान्तर में 'रासो' बना। मोतीलाल मेनारिया के अनुसार 'जिस ग्रंथ में राजा की कीर्ति, विजय, युद्ध तथा वीरता आदि का विस्तृत वर्णन हो, उसे 'रासो' कहते हैं।
2. गार्सा द तासी के अनुसार 'रासो' की उत्पत्ति 'राजसूय' शब्द से है।
3. रामचन्द्र वर्मा के अनुसार इसकी उत्पत्ति 'रहस्य' से हुई है।
4. मुंशी देवीप्रसाद के अनुसार 'रासो' का अर्थ है कथा और उसका एकवचन 'रासो' तथा बहुवचन 'रासा' है।
5. ग्रियर्सन के अनुसार 'रासो' की उत्पत्ति राजादेश से हुई है।
6. गौरीशंकर ओझा के अनुसार 'रासा' की उत्पत्ति संस्कृत 'रास' से हुई है।

7. पं. मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या के अनुसार 'रासो' की उत्पत्ति संस्कृत 'रास' अथवा रासक' से हुई है।
8. विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अनुसार 'रासो' की व्युत्पत्ति का आधार 'रासक' शब्द है।
9. बैजनाथ खेतान के अनुसार 'रासो'या 'रायसों' का अर्थ है झगड़ा,पचड़ा या उद्यम और उसी'रासो' की उत्पत्ति है।
10. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'रासो' तथा 'रासक' पर्याय हैं और वह मिश्रित गेय-रूपक हैं।
11. डॉ. माताप्रसाद गुप्त के अनुसार विविध प्रकार के रास, रासावलय, रासा और रासक छन्दों, रासक और नाट्य-रासक, उपनाटकों, रासक, रास तथा रासो-नृत्यों से भी रासो-प्रबन्ध-परम्पराका सम्बन्ध रहा है- यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। कदाचित् नहीं ही रहा है।
12. हिंदी साहित्य कोश में 'रासो' के दो रूप की ओर संकेत किया गया है- गीत-नृत्यपरक (पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरात में समृद्ध होने वाला) और छंद-वैविध्यपरक (पूर्वी राजस्थानतथा शेष हिंदी में प्रचलित रूप।)रास काव्य मूलतः रासक छंद का समुच्चय है। अपभ्रंश में 29 मात्राओं का एक रासा या रास छंदप्रचलित था। विद्वानों ने दो प्रकार के 'रास' काव्यों का उल्लेख किया है- कोमल और उद्धत। प्रेम के कोमल रूप और वीर के उद्धत रूप का सम्मिश्रण पृथ्वीराज रासो में है। रासो साहित्य मूलतः सामंती-व्यवस्था, प्रकृति और संस्कार से उपजा हुआ साहित्य है जिसका संबंध पश्चिमी हिंदी-प्रदेश से है। इसे 'देशभाषा काव्य' नाम से भी जाना जाता है। इस साहित्यके रचनाकार हिन्दू राजपूत राजाश्रय में रहने वाले चारण या भाट थे। समाज में उनका स्थान सम्मान का था, क्योंकि उनका जुड़ाव सीधे राजा से होता था। ये चारण या भाट कला पारखी और कला-रचना में निपुण होते थे ये योद्धा भी होते थे जो युद्ध होने पर अपनी सेना की अगुवाई विरुदावली गा-गाकर किया करते थे। ये राजाओं, आश्रयदाताओं, वीर पुरुषों तथा सैनिकों के वीरोचित युद्ध घटनाओं, को केवल बढ़-चढ़ा कर ही नहीं, उसकी यथार्थ परक स्थितियों एवं सन्दर्भों को भी बारी की के साथ चित्रित करते थे। वीरोचित भावनाओं के वर्णन के लिए इन्होंने 'रासकया रासो' छंद का प्रयोग किया था।

इसलिए इनके द्वारा रचित साहित्य को 'रासो साहित्य भी कहा गया। चारण साहित्य की रचना के समय देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति अच्छी नहीं थी। पूरा देश कई छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया था। प्रत्येक राज्य का राजा अलग होता था। उनमें आये दिन युद्ध हुआ करता था। सभी राजा एक-दूसरे से मेल-जोल रखने के बजाय आपस में लड़ते-भिड़ते रहते थे। राज्य-विस्तार करने के लिए उन्हें युद्ध करना जरूरी था। विदेशी सामंतों के आ जाने से युद्ध का वातावरण और गर्म हो गया। विदेशी सामंतों ने देशी राजाओं में फूट डालो और राज्य करो की नीति का अनुसरण किया और एक दिन वे पूरे हिन्दू-जाति के शासक बन गए। जिस हिन्दू राजा ने उनका विरोध किया उससे उन्होंने युद्ध की टान ली और जीतकर उसे अपने अधीन कर लिया। राजनीतिक स्थिति के बिगड़ने से सामाजिक स्थिति में भी बिखराव आया। प्रमुख हिन्दू जातियाँ उपजातियों में बढ़ती गईं। धार्मिक सम्प्रदाय भी उपसम्प्रदायों में विभाजित होते गए। सभी जातियों और सम्प्रदायों में जो मेल जोल और सौहार्द पहले था, वह पूरी तरह वैमनस्य भाव में बदल गया। आये दिन एक जाति के लोग दूसरी जाति से और एक सम्प्रदाय लोग दूसरे सम्प्रदाय से लड़ने-भिड़ने लगे। इससे समाज में युद्धोन्माद बढ़ा। सांस्कृतिक मेल जोल और एकता के अभाव ने इसे और बढ़ने दिया। संघर्ष के इस वातावरण से देश और राज्य की आर्थिक स्थिति और दयनीय हो गयी। लोग भूखों मरने लगे। भूखे लोगों को मरने और मारने के अतिरिक्त और कोई काम नहीं रह गया था। किन्तु ये लोग जो निम्न और निम्न मध्यवर्ग के थे, लड़ नहीं पा रहे थे। इसीलिए इन्होंने लड़ने वाली जाति, विशेषकर राजपूत जाति की सेवा की और उन्हें लड़ने के लिए उकसाया। वे अपनी प्रजा को दुःखी नहीं देख सकते थे। इसीलिए उन्होंने युद्ध करना अपना नैतिक कर्तव्य मान लिया। इसीलिए एक धर्म और सम्प्रदाय के लोग दूसरे धर्म और सम्प्रदाय से अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने में लगे हुए थे इसके कारण भी संघर्ष बढ़ा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में-“लड़ने वालों की संख्या कम थी, क्योंकि लड़ाई भी जाति विशेष का पेशा मान ली गई थी।

लोग क्रमशः जातियों और उपजातियों तथा सम्प्रदायों ओर उपसम्प्रदायों में विभक्त होते जा रहे थे। लड़ने वाली जाति के लिए सचमुच ही चैन से रहना असम्भव हो गया था क्योंकि सभी दिशाओं से आक्रमण होने की सम्भावना थी। निरन्तर युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने को भी एक वर्ग आवश्यक हो गया था। चारण इसी श्रेणी के लोग हैं। उनका कार्य ही थाहर प्रसंग में आश्रयदाता के युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देने वाली घटना—योजना का आविष्कार। स्पष्ट है कि जिस समय कोई देश या राष्ट्र (जाति) युद्ध में व्यस्त रहता है उस समय रचनाकार मुख्य कर्म हो जाता है उस चेतना में स्थान देना चारण—साहित्य या रासो साहित्य का प्रमुखस्वर वीरत्व होने का यही कारण था।

रासो काव्य—परम्परा— इस साहित्य का अपना एक इतिहास है। बारह सौ ईस्वी के निकटस्थ चारराजपूत राज्य हिंदी—प्रदेश में वर्तमान थे—कन्नौज में गाहड़वाल वंश, या राठौड़ वंश, बुन्देलखण्ड में चंदेल वंश; राजपूताने में चौहान और दिल्ली में तोमर वंश। कन्नौज राज्य के अन्तर्गत जयचन्द के दरबार में मधुकर नाम के कवि का होना सुना जाता है जिसकी रचना का नाम 'जयमयंकजसचन्द्रिका' है। यह कृति अभी तक अनुपलब्ध है। इसी प्रकार का नाम दूसरे कवि भट्टकेदार का है जिसकी रचना का नाम 'जयचन्द्रप्रकाश' है। यह कृति भी आज तक अप्राप्य है। बुन्देलखण्ड राज्य से संबंधित ग्रंथ जो आल्हाखण्ड आज मौखिक रूप से सुना जाता है वह किसी अज्ञात रचनाकार द्वारा लिपिबद्ध कराया गया है। राजपूताने के अजमेर राज्य से संबंधित अभी तक दो ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं— पहला दलपति का 'खुमाणरासो' जो अभी तक अप्रकाशित है; दूसरा नरपतिनाल्ह कृत 'वीसलदेवरासो', जिसका प्रकाशन हो चुका है। दिल्ली राज्य से संबंधित ग्रंथ चन्दबरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' है। यह एक प्रकाशित कृति है। काव्य—रूप की दृष्टि से यह एक प्रबन्ध काव्य है। इन ग्रंथों के सर्वेक्षण से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि अधिकांश ग्रन्थों में 'रासो' शब्द नाम केअन्त में जुड़ा हुआ है जो 'काव्य' शब्द का पर्यायवाची है। 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में अब तक कई मत सामने आए हैं। इतिहासकार गार्सा द तासी ने इस शब्द की व्युत्पत्ति 'राजसूय', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रसायण' और डॉ. मोतीलाल मेनारिया ने 'रहस्य' से माना है। श्री नरोत्तमस्वामी ने इसकी व्युत्पत्ति 'रसिया' और कुछ अन्य विद्वानों ने 'रासक' से भी माना है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी 'रासक' को एक छंद भी मानते हैं और काव्य—भेद भी। ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल की कविता के संबंध में अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ करता था। ये काव्य चरित्र प्रधान हैं। इन चरित्रों को काव्य में बाँधने के लिए ही इस शब्द का प्रयोग होता रहा है। वस्तुतः रासो काव्य मूलतः रासक छंद का समुच्चय है। अपभ्रंश में उन्नीस मात्रा का एक रासा या रास छंद प्रचलित था। ऐसे अनेक छंदों के गाने की परम्परा कदाचित् लोकगीतों में रही होगी। एकरसता न रहे इसलिए बीच—बीच में दूसरे छंद जोड़ने और गाने की प्रथा भी उस समय से चली होगी। 'संदेशरासक' मुक्तक काव्य इसका एक सुंदर नमूना है। पहले रासो काव्य छंद में लिखे गए। कालान्तर में इनमें बदलाव आया होगा जिसके फलस्वरूप गेय छंदों का उपयोग किया जाने लगा।

'वीसलदेव रासो' एक ऐसा ही प्रेमप्रधान काव्य है जिसमें रासकेतर छंद का प्रयोग हुआ है। आगे चलकर काव्य का यह रूप कोमल भावनाओं के अतिरिक्त अन्य विचारों की अभिव्यक्ति का वाहक बना। प्रेमभाव के साथ इसमें वीरों की गाथात्मक चेतनाओं को स्थान मिला। जिस प्रकार अंग्रेजी का 'सॉनेट' मूलतः प्रेमप्रधान भावनाओं का काव्य था, किन्तु कालान्तर में उसे अन्य भावों का भी वाहक बना लिया गया। उसी प्रकार की दशा इन आदि कालीन रासो काव्य की समझनी चाहिए। इसी परिवर्तनशील प्रक्रिया के तहत हमें इस काल के रासो काव्य में एक साथ वीरोचित और शृंगारोचित भावनाओं के वर्णन सुलभतापूर्वक मिल जाते हैं। रासो परम्परा के प्रतिनिधि ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

1. **खुमाणरासो**— इस परम्परा की प्रारम्भिक कृतियों में 'खुमाणरासो' का स्थान सर्वोपरि है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख शिवसिंह सेंगर की कृति 'शिवसिंह सरोज' में मिलता है। इसके रचयिता दलपति विजय हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसको नवीं शताब्दी (सन् 812 ई.) की रचना मानते हैं। इसमें राजस्थान के चित्तौड़—नरेश खुमण (खुम्माण) द्वितीय

के युद्धों का सजीव वर्णन किया गया है। किन्तु राजस्थान के वृत्त-संग्राहकों के अनुसार यह सत्रहवीं शताब्दी की रचना ठहरती है, क्योंकि सत्रहवीं शताब्दी के चित्तौड़-नरेश राजसिंह तक के राजाओं के यशोगान का चित्रण मिलता है और इसी आधार पर इसको आदिकालीन रचनाओं के भीतर नहीं रखते हैं। ऐसा मान लेने पर हम इस रचना के साथ समुचित न्याय नहीं कर पाते, क्योंकि यह बराबर देखने में आया है कि जब भी कोई लिपिकार किसी पुरानी पोथी को लिपि बद्धकरता है तो वह अपने समकालीन राजाओं से सम्बद्ध कथानकों को इसलिए जोड़ देता है ताकि उसके आश्रयदाता को भी महत्त्व मिल जाय। यह तथ्य 'खुमाणरासो' में जुड़े बाद के प्रक्षिप्त अंश को देखने से स्पष्ट हो जाता है। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में "वृत्त-संग्राहकों के पास इतिहास को समझने की पैनी दृष्टि थी; इसलिए राजस्थान में रहते हुए भी वे आदिकाल की समाप्ति को भक्तिकाल और रीतिकाल के भण्डार में डालने का दुराग्रह करके यश अर्जित कर रहे हैं, जब कि वह सामग्री उन कालों की प्रवृत्तियों से किसी भी रूप में मेल नहीं खती। इन लोगों ने रचनाकारों के नामों के संबंध में भी भ्रम पैदा किया है।" यही कारण है कि डॉ. मोतीलाल मेनारिया जैसे प्रबुद्ध इतिहासकार ने भी इस कृति के रचनाकार दलपति-विजय को जैन साधुमाना है जो पूरी तरह से गलत है, क्योंकि रचना-शिल्प और वस्तु-विधान की दृष्टि से यह काव्य किसी जैन साधु द्वारा विरचित नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो अवश्य ही इस रचना की अन्तर्वस्तु में जैन धर्म चेतना का प्रसार मिलता, जो कि नहीं है। इस स्थिति में इसका रचनाकाल नवीं शताब्दी मान लेने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई पड़ती।

इस ग्रन्थ की प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति पूना-संग्रहालय में सुरक्षित है। इसमें कुल पाँच हजार छंद हैं। इसमें समकालीन राजाओं के आपसी विवादों के बाद हुए एकता के साथ-साथ अब्बासिया राजा खुमाण खलीफा और खुमाण के साथ हुए युद्ध का चित्रण मिलता है। इस कृति का प्रमुख सरोकार राजा खुमाण का चरित्रांकन करना है। उनके चरित्र के दो प्रधान बिन्दु हैं— एक युद्ध और दूसरा प्रेम। उनके प्रेम को दर्शाने के लिए ही कृतिकार ने नायिकाभेद और ऋतु वर्णन का उल्लेख भी किया जो रमणीय है। वीर और शृंगार रस के साथ इसमें दोहा, सवैया और कवित्त छंदों का उपयोग किया गया है। इसकी भाषा राजस्थानी हिंदी है। यथा:

“पिउ चित्तौड़ न आविऊ सावण पहिली तीज।

जोवै वाट रति विरहिणी, खिण-खिण अणवै खीज।।

संदेसोपिउ साहिबा, पाछो फिरिय न देह।

पंछी घाल्या पीज्जरे, छूटण रो संदेस”।।

2. परमाल रासो —इस परम्परा की अगली कृति के रूप में 'परमाल रासो' का नाम लिया जाता है। इसे 'आल्हाखण्ड' भी कहते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे 'वैलेड' तथा डॉ. रामकुमार वर्मा ने इसे 'वीरगाथा' काव्य कहा है। अभी तक इसकी प्रामाणिक प्रति उपलब्ध नहीं हुई है। जो 'आल्हाखण्ड' प्राप्त है वह बहुत बाद में लिपिबद्ध किया गया है। सर्वप्रथम सन् 1865 ई. में चार्ल्स इलियट ने जिस 'आल्हाखण्ड' का प्रकाशन कराया था, वह पूरी तरह से मौखिक परम्परा पर आधारित है। इसी प्रति को आधार बनाकर डॉ. श्यामसुंदर दास ने 'परमालरासो' का पाठ-निर्धारण किया और नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित कराया। पाठ-निर्धारण के बाद भी यह कृति प्रामाणिक नहीं बन सकी। यह 13वीं शताब्दी के प्रारम्भ की रचना है। उस काल की रचनाओं के वस्तु-विधान और शिल्प-विधान से वह सर्वथा भिन्न है। इसके रचयिता जगनिक हैं, जो महोवा के नरेश परमर्दिदेव का आश्रित था। रचनाकार ने इस काव्य में महोबे के दो देश प्रसिद्ध वीरों आल्हा और ऊदल के वीर चरित्र को यथार्थ ढंग से प्रस्तुत किया है। इसमें आल्हा छंद (वीरछंद) का प्रयोग हुआ है। इसकी भाषा बैसवाड़ी है। इसका प्रचार वैसे सारे उत्तर भारत में है पर बैसवाड़ा इसका मुख्य केन्द्र है। वहाँ इसके गाने वाले अधिक मिलते हैं। बुन्देलखण्ड में, विशेष रूप में महोबे के निकट क्षेत्रों में इसका अधिक प्रचलन मिलता है। गीत-योजना और छंद-विधान की दृष्टि से यह एक वीरगीतात्मक काव्य है —

बारह बरिस लै कूकुर जियें और तेरह लौं जिए सियार ।

बरिस अठारह छत्री जियें, आगे जीवन कौ धिक्कार ।।

3. **जयचन्द्रप्रकाश और जयमयंकजस—चन्द्रिका—** रासो काव्य—परम्परा में 'जयचन्द्रप्रकाश' और 'जयमयंकजस—चन्द्रिका' का उल्लेख भी मिलता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'शिवसिंह सरोज' के आधार पर इन्हें क्रमशः भट्टकेदार तथा मधुकर कवि की कृति माना है। ये रचनाएँ सन् 1167 ई. से सन् 1186 ई. के मध्य लिखी गयी थीं, ये कवि कन्नौज के राजा जयचन्द्रके समकालीन थे और उनके दरबार की शोभा बढ़ाते थे। कुछ इतिहासकारों ने टिप्पणी में उल्लेखित 'भट्टभणंत' के आधार पर भट्टकेदार को जयचन्द्र का दरबारी कवि न मानकर शहाबुद्दीन गोरी का दरबारी कवि सिद्ध किया है जो गलत है। सोचने की बात है कि यदि ये शहाबुद्दीन गोरी के दरबारी कवि होते तो उनका यशोगान करते, पर उन्होंने ऐसा कर के जयचन्द्र का यशोगान किया है। 'जयमयंकजस—चन्द्रिका' के रचनाकार मधुकर ने भी इस ग्रन्थ में जयचन्द्र के प्रताप और पराक्रम का विस्तृत वर्णन किया है। इन कृतियों तथा इनकी हस्तलिखित प्रतियों की अनुपलब्धता के कारण इनका अस्तित्व खतरे में है। जो भी हो ऐतिहासिक संदर्भों में इन कवियों का अस्तित्व सुरक्षित है, भले ही ये कृतियाँ, 'नोटिस मात्र' ही क्यों न हों।

4. **हम्मीर रासो—** इस परम्परा की चौथी कृति का नाम 'हम्मीर रासो' है। आज तक स्वतंत्र रूप से इस रचना की खोज नहीं हो पायी है। हाँ, 'प्राकृत पैंगलम' में हम्मीर से संबंधित आठ छंद अवश्य उपलब्ध हैं। इन्हीं आठ छंदों के आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसके अस्तित्व की कल्पना की है। प्रचलित धारणा के अनुसार इस कृति के रचयिता शार्गधर माने जाते हैं। पं. राहुल सांकृत्यायन ने प्राकृत पैंगुलम के आठ छंदों (हम्मीर से संबंधित) से रचयिता के रूप में 'जज्जल' का नामोल्लेख किया है जो उचित भी है। सचमुच 'प्राकृगलम' के दो छंदों में इस रचनाकार का नाम आया है—

(1) "हम्मीर कज्जु जज्जल भणह कोणाहण मुंह मह जलउ ।

सुणतान सीस करवाण दह तेज्जि कबलेर दीअचलउ" ।।

(2) "ढोण्णा मारिअ ढिण्णी मह मुच्छिय मेच्छ सरीर ।

पुर जज्जला मंतिवर चलिउ वीर हम्मीर" ।।

दूसरे की अन्तिम पंक्ति का अर्थ यह है 'जज्जल और मंत्रिवर आगे करके वीर हम्मीर चले' न कि 'आगे मंत्रिवर जज्जल को करके वीर हम्मीर चले' (जैसा कि आचार्य शुक्ल ने किया है)। उस काल का कवि तलवार का भी धनी होता था जो सेना के आगे—आगे चलता था जैसे चन्द्रबरदायी। उसके बाद मंत्री और राजा रहते थे। डॉ. माताप्रसाद गुप्त जैसे विद्वान् इन पंक्तियों के अर्थ को न समझ पाने के कारण ही जज्जल को मंत्री मान लिया है। हम्मीरदेव सन् 1300 ई. में अलाउद्दीन की चढ़ाई में मारे गए थे। इसलिए इस कृति का रचनाकाल 13वीं शती ही मानना चाहिए। इसमें हम्मीर देव और अलाउद्दीन के युद्ध का ही चित्रण किया गया है।

5. **वीसलदेव रासो—**'बीसलदेव रासो' इस परम्परा की पाँचवी कृति है। इसकी रचना 'बारहसे बहोत्तरों मझारि। जाठ बदी नवमी बुधवारि' के अनुसार जेष्ठ वदी नवमी, दिन बुधवार सन् 1155 ई. (संवत् 1212 वि.) में हुई थी। इसके रचयिता—नरपति नाल्ह थे जो अजमेर के चौहानराजा बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) के समकालीन थे। डॉ. मोतीलाल मेनारिया ने इस कृति के रचनाकार के रूप में नरपति जैन का नामोल्लेख किया है जो गलत है, क्योंकि यह रचना जैन मतावलम्बी नहीं है। यह एक शृंगारमूलक रचना है जो गेय है। इसमें चार खण्ड हैं। पूरी रचना लगभग 2000 चरणों में समाप्त हुई है। इसके प्रथम खण्ड में बीसलदेव और मालव के भी परमार की कन्या राजमती का विवाह—वर्णन दूसरे खण्ड में बीसलदेव का रानी से रूठकर उड़ीसा जाना तथा वहाँ बारह वर्षों तक रहना; तीसरे

खण्ड में राजमती का विरह—वर्णन तथा बीसलदेव का उड़ीसा से लौटना और चौथे खण्ड में भेज कर अपनी पुत्री को अपने घर ले आने की कथा तथा बीसलदेव का उसे पुनः चित्तौड़ लौटा लाने का प्रसंग वर्णित है। पूरा काव्य वर्णनात्मक शैली में लिखा गया है। इसमें घटनाओं का अभाव है। यह एक कोमलधर्मा रासक काव्य है जो प्रेम प्रधान होने के कारण गेय है। इसमें मिलन की संवेदनाएँ कम, विरह की संवेदनाएँ अधिक हैं। कृति की मूल संवेदना विरह है जिसका वर्णन द्वितीय प्रक्रम से प्रारम्भ हुआ है। यह अनुचेतना पुरुष और नारी की संवेदनाओं को उद्वेलितकर देता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि स्त्री—पुरुष पहले मिलन में अपनी—अपनी बड़ाई हाँकने से नहीं चूकते हैं। इस तरह के अभिमान भाव से कभी—कभी दोनों में बिछोह हो जाता है। बीसलदेव नव परिणीता के सम्मुख प्रणयव्यंजना की अपेक्षा अपने वैभव का अभिमान प्रकट करता है। यह अभिमान भाव सामंतवादी मनोवृत्ति से उपजता है:

‘गरब करि बोलियउ संइभरि बाल ।

मो सरिसऊ नहिं अबर भूआल ।।’

जब बीसलदेव यह कहते हैं कि मेरे जैसा इस पृथ्वी पर दूसरा कोई भूपाल नहीं है तब उसका सामंतवादी मनोवृत्ति का अभिमान जागृत हो उठता है। वह प्रत्युत्तर देती है—हे साँभरवाल। गर्व न करो, तुम्हारे समान अन्य भूपाल भी हैं एक (तो) उड़ीसा का स्वामी है, उसके घर हीरे की खाने हैं। उसके इस कथन से बीसलदेव के मन पर आघात पहुँचता है। उसके पुरुष—मन में अनेक शंकाएँ उठ खड़ी होती हैं। वह कहता है कि हे नारी; तुम क्यों कड़वे वचन बोलती हो। क्या तुमने मुझे अपने चित्त से उतार दिया है। ठीक ही है दावाग्नि से जले वृक्ष में कोंपल फिरभी लग सकती हैं, पर जीभ से जले हृदय में फिर अनुराग उत्पन्न नहीं होता:

‘कडुवा बोल न बोलिस नारि, तू मो गेल्हसि चित्त बिसारि ।

जीभ का दाधा न पांगुरइ । नाल्ह कहइ सुणजइ सब कोई ।

नारी का नैसर्गिक गुण होता है कि वह पति को रूठते नहीं देख सकती। इसी गुण के कारण राजमती प्रिय की अहमन्यता के सम्मुख अपने को नत कर लेती है, क्योंकि दाम्पत्य जीवन के प्रति उसमें मोह था। इतने पर भी बीसलदेव का अभिमान नष्ट नहीं होता। फलतः बीसलदेव रानी को छोड़कर उड़ीसा जाने को तत्पर हो जाता है। नारी—चेतना आकुलता में परिणत हो जाती है। विप्रलम्भ की आशंका से उद्वेलित नारी कह उठती है:

चालियउ उलगाण्ड घण जाण न देइ ।

मो नइ मारि कइ सरिसीय लेइ ।

अर्थात् ‘या तो मुझे मार डालो या तो साथ ले चल। हे स्वामी! संध्या—समय मुझे दो दुःख पीड़ा पहुँचाते हैं, एक तो यौवन, जो मुझे मरोड़ कर मारता है, दूसरा संतानहीन होना’। इतने पर भी बीसलदेव नहीं मानता। वह उसकी अवमानना करता है तो उसका मर्माहत मन चीत्कारकर उठता है:

छाडी हो स्वामी म्हे थारी हो आस ।

म्इला हो थारउ सिकड वेसास ।।

बीसलदेव राजमती को छोड़कर उड़ीसा चला जाता है। उसके चले जाने के बाद राजमती की अवस्था दयनीय हो जाती है। वह अपने अन्तःपुर में बंदिनी—सा जीवन व्यतीत करती है। उसे ऐसी स्थिति में नारी परतंत्रता का बोध होता है। वह एक नर सामंत द्वारा उपेक्षिता नारी के जीवन—कर्म को भोगते हुए सिहर उठती है। वह वनखण्ड में स्वतंत्र विचरण करने वाली कोयल और गाय को सराहती है:

‘धण्ड न सिरजीय धउलीय गाइ ।

वनखण्ड काली कोइली ।

रचनाकार ने नारी की विरह-संवेदनाओं को प्रभावी बनाने के लिए उसके सामने प्रकृति और उसके उपादानों को उपस्थित कर देता है। वर्ष के बारहों महीने में प्रकृति में होने वाल परिवर्तनों को रचनाकार ने विरहिणी नायिका में बदलने वाले भावों से सीधे जोड़ दिया है। ऐसे सन् दर्भों में कवि ने राजमती की विकलता, चिंता, उद्वेग, दुःख को मनोवैज्ञानिक ढंग से वर्णित किया है। आषाढ़ का चित्रण इस दृष्टि से अनूठा है:

‘धुरि आसाढ़ घडुकया मेह ।

खलहत्था बहि गई खेह ।।

इसके बाद राजमती पण्डित को संदेशवाहक बनाकर प्रिय को लौट आने का संदेश भेजती है। संदेशवाहक की परम्परा को निबाहने के कारण यह प्रकरण दूत काव्य-परम्परा से जुड़ जाता है। संदेश पाकर बीसलदेव घर लौट आता है। दोनों के मिलने से काव्य समाप्त हो जाता है। इस तरह यह एक संदेशकाव्य, गेय काव्य और विरह प्रधान काव्य ठहरता है। इसकी भाषा अवहट्ट है।

6. विजयपाल रासो- मिश्रबन्धुओं ने इस परम्परा की एक कृति ‘विजयपाल रासो का उल्लेख किया है, जिसके रचयिता नल्ल सिंह है। इस कृति का नायक विजयपाल सम्भवतः विश्वामित्र गोत्रीय गुहिलवंशीय राजा विजयपाल से भिन्न है जिसने कोई नामक वीर योद्धा को पराजित किया था। इस राजा के प्रपौत्र विजय सिंह का एक हिंदी शिलालेख दमोह (म.प्र.) में प्राप्त हुआ है। राजबली पाण्डेय इस रचना में मानते हैं कि रचनाकार ने राजा विजयपाल सिंह और बंगराजा के बीच हुए युद्धों को सजीव रूप में चित्रित किया है। इसका रचनाकाल सन् 1298 ई. है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसी नाम की दूसरी कृति का उल्लेख भी किया है जिसके रचनाकार मल्लदेव हैं। शिल्प-विधान की दृष्टि से यह आदिकाल के बाद की रचना ठहरती है।

7. पृथ्वीराज रासो – इस परम्परा की अन्तिम कृति ‘पृथ्वीराज रासो हैं इसके रचयिता चन्दबरदाई हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में— “ये हिंदी के प्रथम महाकवि माने जाते हैं और इनका पृथ्वीराज रासो हिंदी का प्रथम महाकाव्य है। चंद दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट् महाराज पृथ्वीराज के सामंत और राजकवि प्रसिद्ध हैं।— ये महाराज पृथ्वीराज के राजकवि ही नहीं, उसके सखा और सामंत थे; तथा षड्भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छंदशास्त्र, पुराण, नाटक आदि अनेक विद्याओं में पारंगत थे।” इनका जन्म सन् 1168 में हुआ था। जनश्रुति के अनुसार जिस समय पृथ्वीराज चौहान को मुहम्मद गौरी बन्दी बनाकर अपने देश ले जा रहा था, उस समय चन्द भी महाराज के साथ गया था। उसी समय वह अपने पुत्र जल्ल (जल्हण) को ‘पृथ्वीराज रासो’ को सौंप गया था। ‘पुस्तक जल्हण हत्थ दै, चलि गज्जन नृप काज’। ऐसा विश्वास है कि जल्हण ने चन्द के अपूर्ण महाकाव्य को पूरा किया था। अभी तक ‘पृथ्वीराज रासो’ के चार संस्करण ही उपलब्ध हैं। प्रथम संस्करण जिसका कलेवर बड़ा है, काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित है और जिसकी हस्तलिखित प्रतियाँ उदयपुर संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इस संस्करण में 69 समय (खण्ड) रासो में 7000 छंद हैं। इसका प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ है, किन्तु इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ अबोहर और बीकानेर (राजस्थान) में आज भी सुरक्षित हैं। यह प्रति 17वीं शती के आसपास की है। तीसरे संस्करणका ‘पृथ्वीराज रासो’ का कलेवर लघु है जिसमें 3500 छंद ही संकलित हैं। इसमें केवल 19 समय हैं। इसकी प्रति बीकानेर (राजस्थान) में सुरक्षित है। चौथे संस्करण के ‘पृथ्वीराज रासो का अंग है। यह इसका लघुतम संस्करण है। रासो में केवल 1300 छंद हैं जिसका प्रकाशन ‘राजस्थान भारती’ से हुआ है। यह सबसे छोटा संग्रह है।

2.7 पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता

'पृथ्वीराज रासो' के रचियता चन्दबरदायी माने जाते हैं। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान गार्सा द तासी चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन मानते हैं। ऐसा प्रसिद्ध है कि ये पृथ्वीराज के साथ विक्रम संवत् 1206 में पैदा हुए थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चन्दबरदायी का समय संवत् 1225-1249 माना है। वे इन्हें हिंदी का प्रथम महाकवि तथा पृथ्वीराज का राजकवि, सखा एवं सामन्त मानते हैं। 'रासो' के अनुसार ये जगति गोत्र के भट्ट ब्राह्मण थे। इनका जन्म लाहौर में और पालन-पोषण अजमेर में हुआ। चन्द का परिचय देते हुए मिश्रबन्धुओं ने लिखा है, महाकवि चन्दबरदाई वास्तव में हिंदी के प्रसिद्ध कवि हैं। इनके पहले भी भुवाल, पुषी आदि कवि हो गये हैं, परन्तु नाम सुनने के अतिरिक्त उन सबकी रचना आदि पढ़ने का हम लोगों को सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। चन्दबरदाई की कविता से प्रकट होता है कि यह प्रौढ़ रचना है और छन्द आदि की रीतियों पर चलते थे और स्वयं इन्होंने हिंदी-काव्य-रचना की नींव डाली। मिश्रबन्धुओं के अनुसार ये पृथ्वीराज के साथ रहा करते थे। इनका जीवन पृथ्वीराज से अभिन्न था। रासो के अनुसार जब शहाबुद्दीन गौरी पृथ्वीराज को बन्दी बनाकर गजनी ले गया, तब चन्द भी वहां पहुँचे और 'रासो' का लेखन-कार्य अपने पुत्र जल्हण को सौंप गये-

'पुस्तक जल्हण हत्थ दै, चलि गज्जन नृप काज'

ऐसा कहा जाता है कि गजनी में पृथ्वीराज ने चन्द के संकेत पर बाण चलाकर गोरी की हत्याकर दी, तत्पश्चात् चन्द और पृथ्वीराज ने परस्पर कटार मार कर आत्मोत्सर्ग किया। कुछ विद्वानों के अनुसार चन्दबरदाई ने दो विवाह किए थे। उनकी पत्नियों के नाम-कमल और गौरी। इन दोनों पत्नियों से दस पुत्रों का जन्म हुआ था। इन सबमें जल्हण अधिक गुणाढ्य एवं विद्वान् था। कहा जाता है कि जल्हण ने चन्दबरदाई के अधूरे महाकाव्य को पूर्ण किया था।

रधुनाथ चरित हनुमन्त कत, भूप भोज उद्धरिय जिमि।

प्रथिराज सुजस कवि चन्द कृत, चन्द उद्धरिय तिमि।।

महाकवि चन्दबरदाई द्वारा रचित 'पृथ्वीराज रासो' हिंदी का प्रथम प्रबन्धात्मक महाकाव्य है। यह चौहान कुल-भूषण पृथ्वीराज के जीवन-गौरव की गाथा है। इसके निम्नलिखित चार संस्करण प्रसिद्ध हैं-

1. वृहत् रूपान्तर- इसकी कुछ प्रतियाँ उदयपुर-राज्य पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। इसके 69समयों में 16,306 छंद हैं। इस रूपान्तर की सभी प्रतियाँ विक्रम संवत् 1750 के बाद की लिखी हुई हैं।
2. मध्य रूपान्तर- पं० मथुराप्रसाद दीक्षित ने इस रूपान्तर को प्रामाणिक मानकर प्रकाशित कराया है। इसकी छंद संख्या सात हजार मानी जाती है। इसमें प्रायः सभी अध्यायों का नाम 'प्रस्ताव' मिलता है।
3. लघु रूपान्तर- इसकी चार प्रतियों में से तीन प्रतियाँ बीकानेर राज्य के 'अनूप संस्कृत पुस्तकालय' में और एक श्री नाहटा के पास है। इनमें 19 समय हैं और 3500 श्लोक हैं। इसमें अध्यायों को 'खण्ड' कहा गया है।
4. लघुतम रूपान्तर- यह रूपान्तर श्री अगरचन्द नाहटा के द्वारा खोजा गया है। इसका लिपिकाल विक्रम संवत् 1667 माना जाता है। श्लोक संख्या 1300 है, किन्तु भाषा अपेक्षाकृत प्राचीन है।

प्रामाणिकता की समस्याएँ- प्रामाणिकता अप्रामाणिकता की दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' सबसे अधिक आलोचना का विषय बना हुआ है। इसकी ओर विद्वानों का ध्यान, कर्नल टॉड के कारण आकृष्ट हुआ। कर्नल टॉड की प्रशंसात्मक आलेचना से प्रभावित होकर अनेक विद्वानों ने इस ग्रंथ की भाँति-भाँति से महत्ताप्रतिपादित की, किन्तु डॉ. व्हीलर को जब 'पृथ्वीराज विजय' नामक संस्कृत काव्य मिला तो उसके आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ऐतिहासिकता की दृष्टि से 'रासो' अप्रामाणिक है। अब अधिकांश विद्वान इसे अप्रामाणिक मानते हैं। अब तक उपस्थित किये गये

मतों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है—

1. **प्रामाणिक रचना**— यह वर्ग 'रासो' को एक प्रामाणिक रचना मानता है तथा चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन स्वीकार करता है। इस पक्ष के समर्थक हैं—पं. मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, मथुराप्रसाद दीक्षित तथा डॉ. श्यामसुन्दर दास आदि।
2. **अप्रामाणिक ग्रंथ**—यह वर्ग 'रासो' को सर्वथा अप्रामाणिक मानता है। तथा चन्द के अस्तित्व कोभी स्वीकार नहीं करता है। डॉ. व्हीलर, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, मुंशीदेवी प्रसाद आदि इस मत के प्रबल समर्थक हैं।
3. **अर्द्ध-प्रामाणिक रचना**—मुनि जिनविजय, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, कविराज मोहनसिंह तथा आज के अधिकांश विद्वान् इस मत के हैं कि चन्दबरदाई नाम का कोई कवि अवश्य ही हुआ, उसने रासो नामक ग्रंथ भी लिखा और रासो के विभिन्न रूपों में कुछ अंश उस काल का अवश्य ही है।

रासो की ऐतिहासिकता पर जिन विद्वानों ने विचार किया है, उनमें श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा प्रमुख हैं। उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा के 'कोशोत्सव स्मारक-संग्रह' में रासो पर ये लेख प्रकाशित कराया है, जिसमें अनेक तर्क उपस्थित किये हैं। जो लोग 'रासो' को अप्रामाणिक रचना मानते हैं, उनके तर्क निम्नलिखित हैं:

1. रासो में परमार, चालुक्य ओर चौहान क्षत्रिय अग्नि वंशी माने गये हैं, जबकि प्राचीन ग्रंथों और शिलालेखों के आधार पर वे सूर्यवंशी प्रमाणित होते हैं।
2. चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता का नाम, माता का वंश, पुत्र का नाम, सामन्तों के नाम आदि। ऐतिहासिक शिला लेखों तथा 'पृथ्वीराज विजय' नामक ग्रंथ से मेल नहीं खाते। पृथ्वीराज की माँ अनंगपाल की लड़की नहीं थी और नहीं जयचन्द अनंगपाल का दौहित्र तथा राठौर वंशी था। जयानक पृथ्वीराज के पिता का नाम सोमेश्वर और माता का नाम कर्पूरी देवी (चेदि नरेश की पुत्री) लिखा है, जिसका समर्थन झाँसी के शिलालेख से होता है, किन्तु रासो के अनुसार उनकी माता का नाम कमला (अनंगपाल की पुत्री) सिद्ध होती है।
3. ओझा जी ने पृथ्वीराज तथा जयचन्द की शत्रुता तथा संयोगिता-स्वयंवर की बात को भी अनैतिहासिक कहा है।
4. इतिहास के अनुसार अनंगपाल उस समय दिल्ली का राजा नहीं था और न ही पृथ्वीराज को उसने गोद लिया था। पृथ्वीराज अजमेर का शासक था, न कि दिल्ली का।
5. पृथ्वीराज की बहन पृथा का विवाह मेवाड़ के राणा समर सिंह से नहीं हुआ था, क्योंकि शिला लेखों से यह प्रमाणित हो चुका है कि समरसिंह पृथ्वीराज के पश्चात् 109 वर्ष जीवित रहे।
6. गुजरात के राजा भीम सिंह का पृथ्वीराज द्वारा वध भी अनैतिहासिक है, क्योंकि राजा भीम सिंह पृथ्वीराज के पश्चात् 50 वर्षों तक जीवित रहे थे।
7. शहाबुद्दीन की मृत्यु सम्बन्धी इतिवृत्त भी कोरी कल्पना पर आधारित है, क्योंकि गोरी की मृत्यु पृथ्वीराज के हाथों नहीं, गक्खरों के हाथों से हुई।
8. रासो में पृथ्वीराज के 11 वर्ष से लेकर 36 वर्ष की आयु तक चौदह विवाहों का वर्णन है, जबकि इतिहास के अनुसार पृथ्वीराज की मृत्यु तीस वर्ष की अवस्था से पूर्व ही हो गयी थी।
9. चन्दबरदाई के अनुसार पृथ्वीराज का जन्म 1058 गोद लिया जाना 1061, कन्नौज 1090, शहाबुद्दीन के साथ युद्ध 1101 है, किन्तु दानपत्रों, शिला लेखों आदि के अनुसार तिथियाँ अशुद्ध ठहरती हैं।

10. ग्रंथ की भाषा अव्यवस्थित है। उसमें संस्कृत-प्राकृत के अनुकरण पर अनुस्वारात स्वरों की बहुलता है। कहीं-कहीं भाषा का आधुनिक रूप भी मिल जाता है विशेषतः खड़ी बोली का रूप। उसमें अरबी-फारसी के भी बहुत से शब्दों का प्रयोग हुआ है। यदि उपर्युक्त मतों को ही अन्तिम प्रमाण मान लिया जाए, तो 'पृथ्वीराज रासो' को अप्रामाणिक रचना ही कहा जा सकता है।

रासो की प्रामाणिकता का पक्ष 'पृथ्वीराज रासो' को प्रामाणिक मानने वालों में मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, डॉ. श्यामसुन्दर दास, मिश्रबन्धु, ग्रियर्सन, कर्नल टॉड, गार्सा द तासी, डॉ. दशरथ शर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ. शर्मा का एक लेख 'इण्डिया हिस्टारिकल क्वार्टरली, जि० 16,4 दिसम्बर, 1940 में प्रकाशित हुआ है, जिसमें उन्होंने ओझा जी द्वारा प्रस्तुत तथ्यों का उत्तर देकर रासो की प्रामाणिकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

1. डॉ. दशरथ शर्मा का मत है कि श्री ओझा जी के तर्क नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित रासो पर ही आधारित हैं, उसके पश्चात् की रासो सम्बन्धी प्राप्त सामग्री से उनके तर्क निर्मूल प्रमाणित हो जाते हैं और रासो तथा चन्द का पृथ्वीराज का समकालीन होना सिद्ध हो जाता है।
2. मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने लिखा है, "यह महाकाव्य आज तक कवि चन्द का बारहवीं शताब्दी का रचा हुआ एक बड़ा प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। लेकिन कुछ विद्वानों ने इसे अप्रामाणिक बताने की चेष्टा की है। जहाँ तक संवत् का प्रश्न है, वह मुसलमानी तारीख और प्राप्त लेखों से नहीं मिलते क्यों उनमें 90-91 वर्षों का अन्तर पड़ता है। इसका कारण आनंद विक्रम (91 वर्षों का अन्तर) है। अगर इसे उपर्युक्त ग्रंथ की तिथियों से जोड़ दिया जाय तो संवत् की भ्रान्ति दूर हो सकती है। . . . जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, इसके आठ या दस भाग में फारसी शब्द हैं। इसका कारण यह है कि फारसी शब्दों का मेल हमारे भारत खण्ड की बोलचाल की भाषाओं में सातवें शतक से ही पाया जाता है।"
3. मिश्र बन्धुओं ने लिखा है, "पृथ्वीराज-सम्बन्धी घटनाओं में गौरी का कई बार पकड़ा जाना लिखा है, पर इतिहास में ऐसा वर्णन एक ही बार मिलता है। इसका कारण है कि अधिकांश इतिहास मुसलमानों द्वारा लिखे गये हैं, जिन्होंने अपमान से बचने के लिए हार को कम करके लिखा है।" अरबी-फारसी शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है. . . गौरी के आक्रमण के 200 वर्ष पूर्व से ही महमूद गजनवी की चढ़ाईयां होने लगी थीं और पंजाब का एक बड़ा भाग यवनों के अधिकार में चला गया था। अतः पंजाबी में मुसलमानी शब्दों का मिलना स्वाभाविक ही है। फिर चन्द का जन्म भी तो लाहौर में हुआ था।
4. 'साहित्य लहरी', 'चन्द-छंद वर्णन की महिमा' तथा 'भविष्य-पुराण' में चन्दबरदाई की जाति के भट्ट और पृथ्वीराज के दरबारी-कवि होने का उल्लेख है।

रासो की अर्द्ध प्रामाणिकता

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, मुनि जिनविजय आदि विद्वानों ने रासो को अर्द्ध प्रामाणिक रचना स्वीकार किया है। डॉ. द्विवेदी ने लिखा है, "इस काल (आदिकाल) की कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं, जिन्हें हम अर्द्ध प्रामाणिक कह सकते हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध ग्रंथ 'पृथ्वीराज रासो' है।" डॉ. द्विवेदी के अनुसार रासो की रचना शुक-शुकी के संवाद के रूप में हुई थी। अतः जिन सर्गों का आरम्भ शुक-शुकी संवाद से होता है, उन्हीं को प्रामाणिक माना जाना चाहिये। इस दृष्टि से विचार करने पर 'रासो' के निम्नलिखित प्रसंग प्रामाणिक जान पड़ते हैं-

1. आरम्भिक अंश, 2. इच्छिनी-विवाह, 3. शशिव्रता का गन्धर्व-विवाह, 4. तोमर परिहार काशहाबुद्दीन को पकड़ना, 5. संयोगिता का जन्म, विवाह तथा इच्छिनी और संयोगिता की प्रतिद्वन्द्विता और समझौता।

रासो का काव्य—सौन्दर्य —‘पृथ्वीराज रासो’ हिंदी साहित्य का आदि महाकाव्य है, जिसमें मानव—चेतना की अनुभूति की सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है। यही कारण है कि इस ग्रंथ में भाव—पक्ष एवं कला पक्ष का मणिकांचन संयोग हुआ है। इस ग्रंथ में पृथ्वीराज चौहान की वीरता का सुन्दर वर्णन किया गया है। इसमें उनके जन्म से लेकर मृत्यु—पर्यन्त संघर्ष एवं युद्ध की कहानी है। यह मूलतः वीररस प्रधान महाकाव्य है, किन्तु नव रसों की एकसाथ सुन्दर व्यंजना हुई है। ग्रंथ के ‘आदि पर्व’ में ही इसकी ओर संकेत मिल जाता है —

उक्तिधर्म बिसालस्य, राजनीति नवं रवं।

षट्भाषा पुराणं च, कुरानं कथितं मया।।

रासो में अलंकारों की सुन्दर छटा दृष्टिगोचर होती है। शब्दालंकारों में अनुप्रास एवं अर्थालंकारों में उत्प्रेक्षा का बाहुल्य है। इस ग्रंथ में लगभग 72 प्रकार के छंदों का प्रयोग सफलतापूर्वक देखा जा सकता है। डॉ. लक्ष्मीसागर वाष्णीय ने लिखा है, ‘उपर्युक्त अलंकारों, उपर्युक्त शब्दावली, उपर्युक्त छंदों आदि के प्रयोग से उनकी भाषा की अभिव्यंजना—शक्ति बढ़ी है। भावावेग के साथ—साथ उनकी रचना में भाषा—प्रवाह भी देखने योग्य है।’ रासो की भाषा के सम्बन्ध में कुछ निश्चय रूप में कहना कठिन है। ‘ग्राउज’ ने इसकी भाषा को सोलहवीं शताब्दी के साहित्य में प्रयुक्त ब्रजभाषा कहा है। डॉ. भगीरथ मिश्रा इसे अपभ्रंश की रचना स्वीकार करते हुए लिखा है, “पृथ्वीराज रासो अपभ्रंश मात्र का काव्य है, अतः सहज संक्षेपों के अतिरिक्त भाषा का अक्खड़पन उसमें प्रतिपादित विषय और वर्णित भावों के कारण है।”

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि रासो एक जाली ग्रंथ नहीं है। उसमें अत्यधिक क्षेपक होने से उसका वास्तविक स्वरूप अवश्य ही विकृत हो गया है, परन्तु जब तक कोई पुरानी हस्तलिखित प्रति नहीं मिल जाती, तब तक उसके विषय में कुछ कहना कठिन ही होगा।

2.8 सारांश

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आदिकाल हिंदी साहित्य का प्रारंभिक बिंदु है। आदिकाल ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व साहित्यिक परिस्थितियों के जानकारी प्राप्त की। जैन साहित्य, सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य, एवं रासो साहित्य को की प्रवृत्ति को जाना। रासो ग्रंथों का प्रणयन चरित काव्य के रूप में प्रशस्त था। साथ ही डिंगल—पिंगल भाषा युक्त ग्रंथ में अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन किया गया था। इस प्रकार आदिकाल हिंदी साहित्य में मील का पत्थर स्थापित हुआ दिखाई देता है।

2.9 मुख्य शब्दावली

1. अनुशीलन—बार—बार किया जाने वाला अध्ययन या अभ्यास।
2. मकरन्द—फूलों का रस, फूलों का केसर।
3. पुर्सी—किसी की मृत्यु के समय शोक व्यक्त करना, सांत्वना।
4. सत्तालोलुपता— सत्ता के प्रति लालायित रहना।
5. राज्याश्रय—राजाओं का आश्रय।
6. प्रशस्ति काव्य— किसी की प्रशंसा में लिखी गई रचना।
7. संध्या—भाषा— अपभ्रंश एवं हिंदी के संधिकाल की भाषा।

2.10 अभ्यास हेतु प्रश्न

- 1 आदिकालके नामकरण की समस्या पर विचार कीजिए।

- 2 आदिकालकी ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों ने साहित्य को कहां तक प्रभावित किया ?
- 3 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालिए।
- 4 प्रमुख रासो ग्रंथों का परिचय दीजिए।
- 5 आदिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख कीजिए।

2.11 आप ये भी पढ़ सकते हैं

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल – हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
2. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी – हिंदी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2008
3. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी – हिंदी साहित्य का आदिकाल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2014
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – हिंदी साहित्य का इतिहास (दो खण्ड)
5. बच्चन सिंह – हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
6. नामवर सिंह – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2018
7. नगेन्द्र – रीतिकाल की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
8. बच्चन सिंह – आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास
9. रामविलास शर्मा – लोकजागरण और हिंदी सौन्दर्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

हिंदी साहित्य का भक्तिकाल

- 3.0 परिचय
 - 3.1 इकाई के उद्देश्य
 - 3.2 भक्तिकालीन परिवेश: ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक
 - 3.3 भक्ति आन्दोलन
 - 3.4 भक्तिकालीन काव्य धाराएं : वैशिष्ट्य और अवदान
 - 3.5 भक्ति काल : स्वर्ण युग
 - 3.6 सारांश
 - 3.7 मुख्य शब्दावली
 - 3.8 अभ्यास हेतु प्रश्न
 - 3.9 आप ये भी पढ़ सकते हैं
-

3.0 परिचय

हिंदी साहित्य का भक्तिकाल मध्य भाग का प्रारम्भिक भाग है। यह वह काल है जो वैचारिक समृद्धता और कला वैभव के लिए विख्यात रहा है। इस काल में हिंदी काव्य में किसी एक दृष्टि से नहीं अपितु अनेक दृष्टियों से उत्कृष्टता पायी जाती है। इसी कारण विद्वानों ने भक्तिकाल को विभिन्न नामों से अलंकृत किया। जॉर्ज ग्रियर्सन ने स्वर्णकाल, श्यामसुन्दर दास ने स्वर्ण युग, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति काल एवं हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लोक जागरण कहा।

ऐतिहासिक दृष्टि से भक्ति आंदोलन के विकास को दो चरणों में देख सकते हैं। प्रथम चरण के अन्तर्गत दक्षिण भारत का भक्ति-आंदोलन आता है। इस आंदोलन का काल छठी शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक का है। द्वितीय चरण में उत्तर भारत का भक्ति आंदोलन आता है। इसकी समय सीमा तेरहवीं शताब्दी के बाद से सत्रहवीं शताब्दी तक है। इसी चरण में भारत इस्लाम के सम्पर्क में आया। हिंदी साहित्य के भक्तिकाल का संबंध उत्तरी भारत भक्ति-आंदोलन से है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्तिकाल की समय सीमा सन् 1318-1643 ई. मानी है।

भक्ति आन्दोलन उदय के कारणों पर विभिन्न विद्वानों के मत अलग-अलग दिखाई देते हैं-

सर जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार सर जॉर्ज ग्रियर्सन भक्ति आन्दोलन का उदय ईसाई धर्म के प्रभाव को मानते हैं। उनका यह भी मानना है कि रामानुजाचार्य को भावावेश और प्रेमोल्लास के धर्म का सन्देश ईसाइयों से मिला।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति आन्दोलन के उदय के निम्नकारण बताये हैं -जब देश में मुसलमानों का साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतन्त्र राज्य भी नहीं रह गये। इतने भारी राजनीतिक उलट फेर के पीछे हिंदू जन समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छायी रही।

अपने पौरुष से हताश जाति के द्वारा भगवान की भक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार – आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत से असहमति व्यक्त करते हुए कहा कि, “यदि इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बाहर आना वैसा होता जैसा आज है।”

उपर्युक्त मतों के विवाद में न पड़कर डॉ. लक्ष्मी नारायण शर्मा के शब्दों में कह सकते हैं – “शक्ति आंदोलन पर इस्लामी विजय के प्रभावों को लेकर यद्यपि मतभेद और विवाद रहा है, तथापि हमारी सम्मति में इस बात से इंकार मुश्किल है कि बारहवीं सदी के अंतिम दशकों में तुर्कों द्वारा भारत-विजय और इस्लाम के आगमन ने ऐसी प्रभावकारी शक्तियों को बढ़ावा दिया जिससे परवर्ती सदियों में लोकप्रिय आंदोलन के रूप में भक्ति के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ।”²

3.1 इकाई के उद्देश्य

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप –

- 1 भक्ति का अर्थ एवं स्वरूप समझ पाएंगे;
- 2 भक्तिकाल की ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक सांस्कृतिक और साहित्यिक परिस्थितियों से अवगत हो पाएंगे;
- 3 भक्ति आंदोलन की विशिष्टताओं व उसे प्रभाव का विश्लेषण कर पाएंगे;
- 4 हिंदी साहित्य में भक्तिकाल के महत्त्व को प्रतिपादित कर पाएंगे।

3.2 भक्तिकालीन परिवेश: ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक

भक्ति काल का उद्भव विशेष परिस्थितियों में हुआ है। भारत मुस्लिम शासन में अनेक विषमताओं से जूझ रहा था। ऐसे में जनमानस को आस्था विश्वास और भक्ति से ही जीने का मार्ग मिलता है। भक्तिकाल अपना एक अहम और महत्वपूर्ण स्थान रखता है। आदिकाल के बाद आये इस भक्तिकालीन साहित्य है। यह हिंदी साहित्य – धार्मिक साहित्य और लौकिक साहित्य का श्रेष्ठ युग है। जिसको जॉर्ज ग्रियर्सन ने स्वर्णकाल, श्यामसुन्दर दास ने स्वर्णयुग, आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भक्ति काल एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक जागरण कहा। इस काल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ रेखांकन योग्य है।

ऐतिहासिक परिवेश – हिंदी साहित्य का मध्यकाल भारत में मुस्लिम साम्राज्य के क्रमिक उत्थान-पतन का युग है। उस समय का शासक दिल्ली का सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक उत्तर से दक्षिण तक अपने राज्य का विस्तार करना चाहता था। इसी विचार का लक्ष्य कर उसने दिल्ली की अपेक्षा देवगिरी को अपनी राजधानी बनाया और उसका नाम दौलताबाद रखा। संवत् 1375 से 1700 विक्रमी तक दास, खिलजी, तुगलक, सैयद, लोदी, मुगल आदि वंशों के व्यक्ति दिल्ली की गद्दी पर रहे। जाति और संस्कृति की दृष्टि से ये विदेशी ही बने रहे। भले ही इनमें से अनेक का जन्म भारत में हुआ था। धार्मिक दमन, राज्य विस्तार के लिए निरन्तर युद्ध तथा ऐश्वर्य और विलासिता का जीवन इनकी विशेषताएँ रही जिसके परिणामस्वरूप हिंदी धर्म व वैष्णव भक्ति के पुनर्जागरण को बल मिला। अपने धर्म की रक्षा के लिए एक अखिल भारतीय धार्मिक आन्दोलन, जिसे भक्ति आन्दोलन भी कहा जाता है, प्रारम्भ हुआ। भक्ति आन्दोलन के प्रणेता दार्शनिक, संत, महात्मा और समाज-सुधारक थे जिन्होंने एक ओर इस्लाम की आक्रामकता के विरुद्ध जन-जन को संगठित किया, वहीं दूसरी ओर सद्भाव स्थापित करने का प्रयास भी किया।

सोलहवीं शती के मध्य में बाबर ने मुगल सल्तनत की नींव डाली उसने मेवाड़ के राणा सांगा को पराजित

करके राजपूतों के प्रतिरोध को रोक दिया, किन्तु पठानों ने हिम्मत न हारी। पठान शासक शेरशाह सूरी ने हुमायूँ को पराजित किया। शेरशाह के उत्तराधिकारी अयोग्य निकले और मुगलों का नेतृत्व अकबर जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति के हाथ में आ गया। कालान्तर में सम्राट अकबर के सामने देश के छोटे-छोटे हिन्दू और मुसलमान शासकों ने एक-एक कर घुटने टेक दिये। अकबर का प्रतिरोध महाराणा प्रताप ने किया और वे आजीवन लड़ते रहे। शाहजहाँ के शासन के अन्तिम दिनों में बुन्देलखण्ड में चंपतराय और महाराष्ट्र में शिवजी ने स्वतन्त्रता का झंडा ऊँचा किया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल— ने भक्तिकाल का सामान्य परिचय देते हुए कहा है, “देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रहा गया।” कोई भी साहित्य युग परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता है। किन्तु भक्तिकालीन साहित्य परिस्थितियों से बहुत कम प्रभावित हुआ। एक भक्तिकालीन कवि ने लिखा है।

‘संत न कहा सीकरी सों काम।’

वह न तो राजदरबार को महत्त्व देते थे और न प्राकृत-जन का गुणगान करते थे। मुस्लिम शासक केवल अनुदार एवं असहिष्णु ही नहीं कहे जा सकते। उनके शासन-काल में संस्कृत एवं देशी भाषाओं के साहित्य, संगीत और कला को प्रोत्साहन मिला। जौनपुर के सुल्तानों ने शास्त्रीय संगीत का पुनरुद्धार करवाया तथा ‘संगीत शिरोमणि’ नामक संस्कृत ग्रंथ का निर्माण कराया। भक्ति काव्य का धर्म विकास मुगल-साम्राज्य के समय में हुआ है, किन्तु राजनीतिक व्यवस्था के प्रति असंतोष इन कवियों की वाणी में यत्र-तत्र अवश्य मिल जाता है। जैसे—

“म्लेच्छनि भार दुखित मेंदिनी।”

“वेद धर्म दूरि गये, भूमि चोर भूप भये।

साधु सीघमान जान रीति पाप पीन की ॥”

सामाजिक परिवेश — इस युग में सामाजिक परिस्थितियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति में आदान-प्रदान हुआ। उस समय तक हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर विवाह हो जाते थे। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हिन्दुओं और मुसलमानों में पूर्ण समन्वय स्थापित हो गया था। कुछ मुसलमान शासक हिन्दुओं के साथ अत्यंत कठोर व्यवहार करते थे। अलाउद्दीन ने दोआब के हिन्दुओं से उपज का 50 प्रतिशत भाग कर के रूप में बड़ी कठोरता से वसूल किया था। उस युग के हिन्दुओं की आर्थिक विपन्नता का चित्र खींचते हुए ‘तारीखे फिरोजशाही’ के लेखक बर्नियर का कहना है कि “उन हिन्दुओं के पास धन संचित करने के कोई साधन नहीं रह गये थे और उनमें से अधिकांश को निर्धनता, अभावों एवं आजीविका के लिए निरन्तर संघर्ष में जीवन बिताना पड़ता था। प्रजा के रहन-सहन का स्तर बहुत निम्न कोटि का था। करों का सारा भार उन्हीं पर था। राज्य पद उनको अप्राप्त थे।” तुलसीकृत ‘कवितावली’ की निम्नलिखित पंक्तियों से तत्कालीन समाज की स्थिति स्पष्ट झलकती है—

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि।

बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी ॥

जीविका विहीन लोग सीघमान सोच बस।

कहाँ एक एकन सौं, कहाँ जाई, का करी ॥

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी— ने तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का विवेचन करते हुए लिखा है। “दैनिक जीवन, रीति रस्म, रहन-सहन, पर्व-त्यौहार आदि की दृष्टि से तत्कालीन भारतीय समाज, सुविधा-सम्पन्न और असुविधा-ग्रस्त इन दो वर्गों में विभक्त था। प्रथम वर्ग में राजा-महाराजा, सुल्तान, अमीर, सामन्त और सेठ-साहूकार आते थे, जिनमें मनमाने ढंग से वैभव प्रदर्शन की उल्लासपूर्ण प्रवृत्ति पायी जाती थी। द्वितीय वर्ग में किसान, मजदूर, सैनिक,

राज्य-कर्मचारी और घरेलू उद्योग-धन्धों में लगी सामान्य जनता थी जो प्रथा-परम्परा का पालन कर संतोष की साँस ले लिया करती थी।" हिन्दुओं में जाति-पाति के बंधन दिन-प्रति-दिन कठोर होते जा रहे थे, किन्तु इनके प्रति आवाज भी उठ रही थी। महाराष्ट्र के नामदेव की भाँति उत्तर भारत में रामानन्द और उनके शिष्य कबीर खुलकर इसका विरोध कर रहे थे। उन्होंने सामाजिक रूढ़ियों का खंडन किया। हिन्दू-मुस्लिम एकता का संतों का प्रयास मुगल-काल में संगीत, कला आदि के क्षेत्रों में दोनों संस्कृतियों के समन्वय में देखा जा सकता है।

तत्कालीन साधु-समाज पर भी पाखण्ड की काली छाया मंडराने लगी थी। भारतीय मुस्लिम समाज की अवस्था हिन्दुओं से अधिक भिन्न न थी। वर्ग-व्यवस्था में आस्था न रखने वालों में भी किसी न किसी प्रकार का आपसी भेदभाव बना हुआ था। इन दिनों दासप्रथा भी प्रचलित थी। हिन्दू कन्याओं को सम्पन्न मुसलमान अधिकाधिक संख्या में क्रय करके अपने घरों में रख लिया करते थे। कुलीन नारियों का अपहरण करवाकर अमीर लोग अपना मनोरंजन करते थे। स्त्रियों को पुरुष जैसा स्तर व सम्मान प्राप्त नहीं था। मुस्लिम महिलाओं की स्थिति हिन्दू स्त्रियों से अधिक भिन्न न थी। बहु विवाह प्रथा के कारण हरमों में इनकी दुर्गति हुआ करती थी। मुस्लिम समाज अपने मूल रूप को खोकर एक प्रकार से भारतीयकरण में प्रचलित हो गया था।

शिवकुमार मिश्र- भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य, में लिखते हैं कि "भक्ति आन्दोलन इन्हीं प्रवृत्तियों के खिलाफ उठा एक आन्दोलन था, जिसके कारण अखिल भारतीय स्तर पर इसमें एक साम्य दिखाई देता है। भक्ति आन्दोलन के ऊपर ऐतिहासिक रूप से यह दायित्व आ गया था कि कुरूपताओं की वास्तविकता से जन सामान्य को परिचित कराए और उनमें इन्हें अस्वीकार करने का साहस पैदा करे। अपने प्रारम्भिक दौर में राजनीतिक स्तर पर ये साधक सत्ता परिवर्तन की परिकल्पना भी नहीं कर सकते थे किन्तु इतना जरूर कर सकते थे कि अपने व्यक्तिगत आचरण से और अपनी वाणी से शोषित-पीड़ित जनता को चेतनशील बनाएँ। उनमें आत्म-सम्मान और विश्वास पैदा करें और जो सही लगे उसे स्पष्ट कहने का साहस दे।

उत्तर भारत में नानक, कबीर, रैदास . . .। इन कवियों ने असंतुष्ट समुदायों को वाणी दी। अकारण नहीं था कि इन कवियों में से अधिकतर तथाकथित नीची जाने वाली जातियों से आते थे। . . सभी मुक्ति पाना चाहते थे। किसी के लिए जाति समस्या थी, तो किसी के लिए हिंदु-मुस्लिम विभेद। शोषण के चक्र से मुक्ति और मानवीय एकता और ईश्वर के समक्ष सबकी समानता की आकांक्षा पूरे भारत में पैदा हो चुकी थी।

सांस्कृतिक परिवेश- तत्कालीन समय में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियाँ एक-दूसरे के निकट आईं। संगीत, चित्र तथा भवन-निर्माण कलाओं में दोनों संस्कृतियों के उपकरणों में समन्वय स्थापित हुआ। समन्वयात्मकता भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषता है। पुराणों में समन्वयात्मकता को जागृत करने व उसे बढ़ावा देने का यथा-सम्भव प्रयास किया गया है। मूर्ति-पूजा, तीर्थ यात्रा, धर्म-शास्त्रों का सम्मान, कर्म फल में विश्वास, अवतारवाद अथवा सगुण भक्ति का ही सर्वत्र आधिपत्य दिखाई देता है। भारतीय समाज में समय-समय पर विदेशी और विजातीय तत्त्वों के आते रहने के कारण परस्पर संघात होते रहे हैं। परन्तु इन्हीं में से होकर एक जीवनी-शक्ति का संचार भी होता रहा है कि भारतीय साहित्य डूबते-डूबते उभरकर इस युग की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषताओं में गिना जा सकता है, जिनकी धुरी पर हिन्दू जीवन चक्र चलता रहा और इस्लाम के भारत-प्रवेश के पूर्व तक अविकृत रूप में प्रचलित रहा। मध्यकालीन हिन्दू समाज के दो पक्ष उभरकर हमारे सामने आते हैं। एक वह जो शास्त्रों का समर्थक है और दूसरा वह जो परम्परागत विश्वासों तथा मान्यताओं अथवा स्वानुभूति का पक्षधर है। यह दूसरा पक्ष ही पौराणिक पक्ष है। परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं मतों की व्याख्या प्रतिव्याख्या के रूप में विशिष्यद्वैत, केवलाद्वैत, द्वैताद्वैत, शब्दाद्वैत आदि मतों की स्थापना की। इन सभी में ईश्वर को निरपेक्ष मानकर उसकी भक्ति का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, पुनर्जन्म आदि के सिद्धान्त प्रायः ज्यों के त्यों रह गये हैं।

ईश्वर और मनुष्य के बीच संबंध स्थापित करने का एक माध्यम धर्म है। जाति, कुल, देश-काल और

परिस्थितियों से निरपेक्ष होकर नैतिक दायित्व का निर्वाह करना धर्म है। धर्माचार अथवा नैतिकता समाज परक है और धर्म साधना व्यक्तिनिष्ठ। साध्य और साधक का एकीकरण साधना के माध्यम से होता है। परन्तु इस काल में धर्म-साधनों की बाढ़ सी आ गई और गुप्त साधनाओं के अन्तर्गत तुच्छ साधनाएँ भी इसमें प्रवेश कर गईं। धर्माचार के नाम पर अनाचार, मिथ्याचार और व्याभिचार तक चलने लग गया। फलस्वरूप ज्ञान-चर्चा की आड़ में पाखण्ड को प्रश्रय मिलने लगा और समाज में एक प्रकार की अराजकता फैल गई।

मध्यकाल में अरुचि और संस्कार का प्राधान्य था। इस कारण बहुधा सामंजस्य बिगड़ जाता था। और संतुलन बनाये रखने के लिए बार-बार समन्वय की ओर उन्मुख होना पड़ता था। इस प्रकार मध्यकाल में भारत की सामाजिक संस्कृति का रूप और अधिक निखरने लगा। ताजमहल और लाल किला भारतीय तथा ईरानी वास्तुकलाओं के सम्मिश्रण के उत्तम निदर्शन हैं। नायक-नायिकाओं के नयनाभिराम चित्रों तथा विविध कलाओं के रूप में दोनों जातियों की चित्र कलाओं का समागम दर्शनीय है। एलोरा के समीप कैलाश मन्दिर में शिव की मूर्ति के सिर के ऊपर बोधिवृक्ष स्थित है। खजुराहो से उपलब्ध कोक्कल के वैधनाथ मन्दिर वाले शिलालेख में ब्रह्म, जिन, बुद्ध तथा वामन को शिव का स्वरूप कहा गया है।

साहित्यिक परिवेश – भक्तिकाल में जिस साहित्य की रचना हुई वह अधिकांश पद्य में अर्थात् छन्दोबद्ध काव्य रूप में है। उस समय संस्कृत तो उच्च हिन्दू वर्ग के लोगों की काव्य भाषा थी। शाही दरबारों में अरबी-फारसी का प्रयोग होता था। परन्तु हिन्दी की लोक भाषाओं का, विशेष रूप से अवधी तथा ब्रजभाषा का, काव्य में प्रयोग होता था। कबीर ने तो ऐसी मिली-जुली लोकभाषा का प्रयोग किया है जिसे सधुक्कड़ी खिचड़ी अथवा सन्ध्या भाषा कहा गया है। भक्तिकाल में प्रबन्धकाव्य, मुक्तक काव्य तथा गीतिकाव्य की रचना हुई। संस्कृत भाषा के कुछ ग्रंथों की टीकाएँ भी हुईं। हिन्दी भाषा और साहित्य ने भक्तिकालीन परिवेश में उच्चकोटि का साहित्य रचने की पृष्ठभूमि नहीं बल्कि चरम विकास प्राप्त किया। कबीर, सूर तथा तुलसी की रचनाएँ साहित्यिक परिवेश की अनुपम देन हैं।

भक्तिकालीन कवियों के साहित्यिक का मूल्यांकन करते ग्रियर्सन लिखते हैं कि "हम अपने को एक ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं, जो सब आन्दोलनों से अधिक विशाल है। . . . क्योंकि उसका प्रभाव आज भी विद्यमान। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, ने रामचरितमानस की व्यापक लोकप्रियता के बारे में उन्होंने लिखा है कि "राजमहल से झोपड़ी तक, यह ग्रंथ प्रत्येक हाथ में है और हिंदू समाज के छोटे-बड़े, धनी-निर्धन बालक-वृद्ध चाहे जो हों, प्रत्येक वर्ग द्वारा सामान रूप से पढ़ा-सुना और समझा जाता है।" इसके पश्चात् मिश्रबन्धुओं ने अपने (हिन्दी नवरत्न) में तीन भक्त कवियों कबीर, सूर और तुलसी को शामिल कर इस युग के साहित्यिक महत्व बताने का प्रयास किया है। बाबू श्यामसुन्दर दास का मत भक्तिकाल में अनेक भक्त कवियों-कबीर, सूर, तुलसी, मीराबाई, रसखान आदि की वाणी (साहित्य) की सरिता अगाध रूप में बही है। डॉ. श्यामसुन्दर दास के शब्दों में - 'जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे रससिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अन्तःकरणों से निकलकर देश के कोने-कोने में फैली थी, उसे साहित्य के इतिहास में सामान्यतः भक्तियुग कहते हैं। निश्चय ही वह हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग था' इस संदर्भ में आगे लिखते हैं- 'हिन्दी-काव्य में से यदि वैष्णव कवियों के काव्य को निकाल दिया जाए तो जो बचेगा वह इतना हल्का होगा कि उस पर किसी प्रकार का गर्व न कर सकेंगे। लगभग दो सौ वर्षों की इस हृदय और मन की साधना के बल पर ही हिन्दी अपना सिर प्रान्तीय साहित्यों के ऊपर उठाये हुए है। तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, मीरा, रसखान, कबीर इनमें से किसी पर भी संसार का कोई साहित्य गर्व कर सकता है। हमारे पास ये सब हैं। ये वैष्णव कवि हिन्दी भारती के कण्ठमाल हैं।'

3.3 भक्ति आन्दोलन

भक्ति भगवान के प्रति मानव की प्रेम भावना का प्रवाह है। इस भावना-प्रवाह से वह तो आनन्द की अनुभूति करता ही है जबकि उससे दूसरे लोग भी आनन्द की अनुभूति प्राप्त करते हैं। भक्ति का मूल उद्गम हमें वेदों से ही

दिखाई पड़ने लगता है। वह उनकी भक्ति-भावना का ही प्रयास है। जिससे ऋषियों ने गहरी श्रद्धा और अनुरक्ति के द्वारा देवताओं पर ऋचाएँ लिखी हैं। विष्णु को भगवान रूप में प्रतिष्ठा मिल चुकी थी। गीता इसका प्रमाण है। इस कृति में ज्ञान, भक्ति और कर्म का श्रेष्ठ समन्वय भी हुआ है। पुराण साहित्य तो भक्ति की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते हैं। पुराण-काल में वैष्णव भक्ति का बड़ा ही चमत्कारी वर्णन मिलता है।

भक्ति आंदोलन के उदय का एक कारण मुसलमान आक्रान्ताओं को भी माना जाता है। इस सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत इस प्रकार है—“देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके मंदिर गिराये जाते थे, देव मूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ न कर सकते थे। ऐसी स्थिति में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतन्त्र राज्य भी नहीं रह गये। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के नीचे हिन्दू जनता पर उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?

“खगेंद्र ठाकुर भक्ति—आंदोलन : पुनर्मूल्यांकन— “भक्ति आंदोलन के उदय के बारे में एक बात और ध्यान देने लायक है। अनेक विद्वानों ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि इस्लाम में समानता का भाव था। जिससे हिंदू—समाज में अपमानित और दलित लोग भक्ति की ओर आकृष्ट हुए। सतीशचंद्र भी कुछ हद तक यह बात मानते हैं। लेकिन इरफान हबीब कहते हैं कि मुस्लिम समाज में सामाजिक समानता की बात कतई नहीं थी भले इबादत की समानता थी। इसलिए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कहना सही है कि इस्लाम नहीं आता। तब भी भक्ति—आंदोलन का अस्सी प्रतिशत ऐसा ही होता। जैसा है। बीस प्रतिशत प्रभाव क्या है। इसे द्विवेदी जी ने स्पष्ट नहीं किया है। मुझे लगता है कि सतीशचंद्र का यह कथन युक्तिसंगत है। राजपूत राजाओं की पराजय और तुर्कों की सल्तनत स्थापित हो जाने के बाद ब्राह्मणों का आदर और उनकी भक्ति कम हो गई थी।” प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता सतीशचंद्र ने ‘मध्यकालीन भारत’ (पृ० 120)

वही कुछ विद्वानों का मानना है कि भक्ति आन्दोलन के आचार्यों में शंकराचार्य, रामानुज, निम्बार्क, रामानन्द, बल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु आदि रहे हैं। हिंदी का भक्ति आन्दोलन संवत् 1400 से 1700 तक का माना गया है। इसमें प्रमुख रचनाकार कबीरदास, रैदास, नानक, जायसी, सूरदास, मीरा, तुलसीदास, आदि दिग्गज कवियों ने भक्ति कालीन परिवेश को आन्दोलन के रूप में उद्घाटित किया है। भक्ति के उत्थान का तृतीय काल 1375 ई. से माना जाता है। इस काल में हिंदी साहित्य भक्ति से ओत-प्रोत था। इसलिए हिंदी साहित्य के इतिहास में यह काल ‘भक्तिकाल’ कहलाता है। मध्यकालीन भक्ति का विकास दो शाखाओं में हुआ निर्गुण तथा सगुण। इनकी भी दो-दो शाखायें हैं। निर्गुण में ज्ञानाश्रयी तथा प्रेमाश्रयी शाखा एवं सगुण में कृष्ण तथा राम-शक्ति की शाखा। इस प्रकार भक्ति आन्दोलन का संक्षेप में विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है।

भक्ति दो भागों में प्रवाहित होकर चली

1. सगुण
2. निर्गुण

सगुण भक्ति आगे दो भागों में विभाजित हुई—

- (क) रामभक्ति, (ख) कृष्ण भक्ति

निर्गुण भक्ति के भी दो भाग इस प्रकार हैं—

- (क) संतमत (ज्ञानाश्रयी) (ख) सूफीमत (प्रेमाश्रयी)

भक्ति आंदोलन के विषय में विभिन्न विद्वानों के मत इस प्रकार रहे हैं—

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति आन्दोलन को पराजित मनोवृत्ति का परिणाम तथा मुस्लिम राज्य की प्रतिष्ठा की प्रतिक्रिया माना है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है, “अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग की क्या था।” डॉ. ताराचन्द्र आदि विद्वानों ने माना है कि भारतीय आन्दोलन मुस्लिम संस्कृति के सम्पर्क की देन है और शंकराचार्य, निम्बार्क, रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य, आलवार, संत तथा लिंगायत आदि सम्प्रदायों की दार्शनिक मान्यताओं पर मुस्लिम प्रभाव है। प्रायः अधिकांश विद्वानों का मत है कि भक्ति का विकास ऐसा नहीं है जो विदेशों से लाया गया हो। न ही यह निराशा प्रवृत्तिजन्य है और न ही किसी प्रतिक्रिया का फल। वस्तुतः यह एक प्राचीन दर्शन—प्रवाह और प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा की एक अविच्छिन्न धारा हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है, “भक्ति साहित्य मनुष्य जीवन के एक निश्चित लक्ष्य और आदर्श को लेकर चला। यह लक्ष्य है भगवद्भक्ति, आदर्श, शुद्ध सात्विक जीवन और साधन, भगवान के निर्मल चरित्र और सरस लीलाओं का गान। इस साहित्य को प्रेरणा देने वाला तत्त्व भक्ति है। इसीलिए यह साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य से अति उत्तम है। मध्यकालीन भक्ति साहित्य प्रायः पद्यमय है और वहाँ साहित्य काव्य का पर्याय है। इसीलिए काव्य रसिकों अथवा साहित्य—पारखियों का ध्यान अचानक ही उन मानदण्डों की ओर आकृष्ट हो जाता है जिन्हें उत्कृष्ट काव्य की कसौटी मान लिया जाता है और जो किसी न किसी काव्यशास्त्र परम्परा का अनुसरण करते हैं। कबीर, जायसी, सूर तथा तुलसी जैसे संवेदनशील इस काल में छाये रहे। इस समय संस्कृत की टीकाओं, व्याख्याओं की सृष्टि होती रही।

धार्मिक संघर्ष के इस युग में तत्कालीन बादशाहों तथा राजाओं के भक्ति कवियों ने प्रशस्ति, शृंगार, रीति, नीति आदि से सम्बन्धित मुक्तक और प्रबन्ध दोनों प्रकार की रचनायें की। इस काल में वीर—रस प्रधान काव्यों की रचना हुई तथा इसके साथ—साथ अन्य रसों की भी रचनाएँ लगातार आती रहीं। मुगल बादशाह शेरशाह सूरी और शहजादे तथा अनेक प्रादेशिक मुस्लिम शासकों के अतिरिक्त अनेक हिन्दू राजाओं ने हिंदी भाषा को प्रोत्साहन तो दिया परन्तु संस्कृत के समानान्तर हिंदी को वह सम्मान न मिल सका जो उसे मिलना चाहिए था। राजस्थानी ब्रजभाषा की रचनाएँ अधिकता में देखने को मिलती हैं और इसमें भक्ति—भावना का प्रखर स्वर है। धर्म की व्याख्या करने वाले इन काव्यों में उच्च—कोटि के काव्य के दर्शन होते हैं। उसकी आत्मा भक्ति है, इसका जीवन स्रोत रस है और उसका शरीर मानव है। इस युग का भक्ति साहित्य हृदय, मन और आत्मा को प्रभावित करता है। यह साहित्य लोक तथा परलोक दोनों की ही व्याख्या मार्मिकता के साथ प्रस्तुत करता है। **भक्तिकालीन साहित्यकारों द्वारा उठाये गये आन्दोलनकारी कदम**

1. **रूढ़ियों तथा आडम्बरों का विरोध:** प्रायः सभी संत कवियों ने रूढ़ियों, मिथ्या, आडम्बरों तथा अन्धविश्वासों की कटु आलोचना की है। इसका कारण इन लोगों का सिद्धों तथा नाथ पन्थियों से प्रभावित होना है। ये लोग तत्कालीन समाज में पाई जाने वाली इन कुप्रवृत्तियों का कड़ा विरोध कर चुके थे। इन कवियों ने मूर्ति पूजा, धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा, व्रत, रोजा, नमाज, हज्ज इत्यादि विधि—विधानों का कड़ा विरोध किया है।

“पत्थर पूजें हरि मिले तो मैं पूजूं पहार।

ताते वह चक्की भली पीस खाय संसार।।”

“कांकर पत्थर जोरि के, मस्जिद लई बनाय।

ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, बहिरा हुआ खुदाय।।”

2. **आत्मसमर्पण की भावना:** संत एवं भक्ति साहित्य में सभी इतिहासकारों की मान्यता रही है क्योंकि भक्ति के क्षेत्र में जब तक कोई व्यक्ति अपने अहं अथवा 'मैं' की भावना को मिटा नहीं देता, तब तक उसे किसी प्रकार की आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं हो सकती। तुलसी ने तो अपनी दास्य भक्ति में किसी प्रकार का अहं नहीं रखा।
3. **भजन तथा नाम की महत्ता पर बल:** संत कवियों ने ईश्वर-प्राप्ति के लिए भजन तथा नाम-स्मरण को परमावश्यक माना है। इसीलिए उन्होंने कहा है कि—

“सहजो सुमिरन कीजिए, हिरदै माहिं छिपाइ।
होठ-होठ सँ न हिलै, सकै नहीं कोई पाइ।।

संत कवि ब्राह्म-विधानों से परिपूर्ण किसी भी साधना-पद्धति में आस्था नहीं रखते। अपने आराध्य का, मन को एकाग्र कर, स्मरण करना ही उनके लिए यहाँ अभिप्रेत रहा है।

4. **गुरु की महत्ता पर बल:** सभी संतों ने ब्रह्म-साधना के लिए सदगुरु का पथ-प्रदर्शन अनिवार्य माना है। सदगुरु ही उन्हें परम तत्त्व के रहस्य से परिचित करा, उनके हृदय में उसके प्रति अनन्य प्रेम की भावना उत्पन्न करता है। नामदेव ने गुरु-महिमा को व्यक्त करते हुए कहा है।

सुफल जनम मोको गुरु कीना।
दुख बिसार सुख अंतरदीना।
ज्ञान जान मोको गुरु दीना।
राम नाम बिन जीवन हीना।।”

5. **नारी के प्रति दृष्टिकोण :** संत कवियों ने सती एवं पतिव्रता नारियों की प्रशंसा की है।

नारी के सत पक्ष का निरूपण करते हुए कबीर ने लिखा है—

“पतिव्रता मैली भली, काली कुचित कुरूप।
पतिव्रता के रूप, वारों कोटि सरूप।।”

उन्होंने नारी की कभी भी निन्दा नहीं की है। केवल नारी के कामिनी रूप की निन्दा जरूर की है, उसे माया पथ भ्रष्ट करने वाली माना है। भक्ति आन्दोलन का उदय दक्षिण-भारत को मानना या न मानना। विद्वानों में चर्चा का विषय रहा है। भक्ति आन्दोलन का उदय बेशक दक्षिण में न माना जाये, लेकिन यह स्वीकार करना पड़ेगा कि पाँचवीं और छठी शताब्दियों में दक्षिण में जैनों और बौद्धों का पतन होता है और शैवों तथा वैष्णवों को अपने कार्य में विजय प्राप्त होती है। निसंदेह कहा जा सकता है कि, तत्कालीन आलवारों तथा नायनमारों का भक्ति आन्दोलन में विशेष महत्त्व रहा है। इसी महत्त्व को निरूपित करते हुए नन्द लाल सिन्हा ने कहा है—“भारत की एकता तथा हिन्दुत्व का सुधार उपस्थित करने के लिए भक्ति आन्दोलन को प्रवृत्त करके दक्षिण के आलवार तथा नायनमार सतों ने हमें आभारी कर दिया।” भक्ति आन्दोलन के इतिहास में आलवारों और नायनमारों का योगदान चिरस्मरणीय रहेगा। आलवारों को वैष्णव कहा गया है। इनकी संख्या 12 मानी गयी है। इनकी रचनाएँ ‘दिव्यप्रबन्धम’ में संकलित हैं जिसका सम्पादन नाथमुनि ने नौवीं शती के अन्त में किया था। ‘दिव्यप्रबन्धम’ में संकलित पदों की संख्या लगभग चार हजार है। नायनमार को शैव कहा जाता है। इनका भी उद्देश्य हिन्दू धर्म की रक्षा करना था। इन्होंने अपनी सारी-अर्चना शिव को ध्यान में रखकर की है। तिरुज्ञान सम्बन्धक, अप्पर, सुंदर मूर्ति नायनमारों में प्रधान है। भक्ति के प्रचार और विस्तार में इनका विशेष महत्त्व है। भक्ति आन्दोलन को तीव्र गति प्रदान करने में आचार्यों की भूमिका

महत्त्वपूर्ण रही है। इस आन्दोलन में जिन आचार्यों ने कार्य को गति दी, उनका उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

शंकराचार्य शंकराचार्य का कार्यक्षेत्र सारा भारतवर्ष था। उन्होंने भक्ति का ही प्रचार नहीं किया, वरन आने वाली पीढ़ी का मार्ग दर्शन भी किया। अद्वैत का प्रचार करना ही उनके जीवन का लक्ष्य था। अनैतिकता अन्धविश्वास तथा हिंसा से भक्ति को मुक्ति दिलाने का श्रेय शंकराचार्य को ही है।

रामानुज के० एल० नीलकान्त शास्त्री ने लिखा है कि भक्ति आन्दोलन के संगठनात्मक तत्त्वों को बलशाली सिद्ध करने का सबसे बड़ा श्रेय आचार्य रामानुज को है। आचार्य की सबसे महत्त्वपूर्ण देन भक्ति जगत में बुद्धि पक्ष तथा हृदय पक्ष दोनों का समन्वय करना था। रामानुज का दार्शनिक सिद्धान्त विशिष्टताद्वैतवाद है।

निम्बार्क निम्बार्क के दार्शनिक सिद्धान्त को द्वैताद्वैत कहते हैं। इनके दो ग्रन्थ बताये जाते हैं—वेदान्त पारिजात सौरभ तथा दश श्लोभी। हिंदी को इस सम्प्रदाय की महत्त्वपूर्ण देते हैं। घनानंद इसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं।

रामानन्द रामानंद के विषय में प्रचलित है कि **“भक्ती द्राविड़ रूपजी, लाये रामानन्द।**

परगट किया कबीर ने, सप्तदीप नवखंड।।” इस सन्दर्भ में देवीशंकर अवस्थी ने कहा है कि उत्तर भारत में वैष्णव साधना का पहला केन्द्र काशी में श्री वैष्णवों का बना। दक्षिण में भक्ति रामानन्द के गुरु राघवानंद लाए थे। परंतु संभवतः दक्षिण की परिस्थितियों में पले-बढ़े राघवानंद उत्तर भारत की मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं बन पाये थे, परंतु अपने विद्रोही शिष्य रामानंद को अलग सम्प्रदाय चलाने की आज्ञा देकर एक समुचित कार्य किया था। रामानन्द ने भक्ति के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। उन्होंने भक्ति का द्वार सभी वर्गों और जातियों के लिए खोला, देवासन-पूजासन पर राम-सीता की प्रतिष्ठा की और लोक भाषाओं को मान प्रदान किया। उनकी दो रचनाएँ भी प्राप्त हैं। ‘वैष्णव मताब्ज-भास्कर’ तथा ‘श्री रामार्चन पद्धति’।

मध्वाचार्य आचार्य मध्वाचार्य का जन्म 1197 में कर्नाटक में माना जाता है। उन्होंने द्वैतवादी मत का प्रवर्तन किया था। गीता भाष्य, विष्णुतत्त्व निर्णय, बाह्यसूत्र भाष्य, उपनिषद भाष्य, सदाचार स्मृति आदि उनके प्रधान ग्रन्थ हैं। मध्वाचार्य ने मायावाद का विरोध करते हुए उसका खण्डन किया था। चैतन्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभु माध्व सम्प्रदाय के भक्त थे।

बल्लभाचार्य बल्लभाचार्य शुद्धाद्वैतवाद (पुष्टिमार्ग) के प्रवर्तक थे। आचार्य बल्लभ मायावादियों तथा नास्तिकों के घोर विरोधी थे। बल्लभाचार्य की भक्ति पद्धति का नूतन रूप और उसमें कृष्ण के माधुर्य भाव की स्वीकृति अपनी विशिष्ट देन है जो विष्णु स्वामी के युग में किसी भी रूप में प्रचलित नहीं थी। आचार्य बल्लभ ने संवत् 1556 में श्री नाथ के मन्दिर का निर्माण करवाया था। हिंदी भक्ति साहित्य की समृद्धि में इस मन्दिर का बड़ा महत्त्व रहा है। इस सन्दर्भ में देवीशंकर अवस्थी ने लिखा है कि “यह मंदिर आगे चलकर न केवल बल्लभ सम्प्रदाय का ही केन्द्र पीठ बना, बल्कि अष्टछाप के गायक कवियों की सृजन-भूमि भी बनने का गौरव इसी ने प्राप्त किया। हिंदी के भक्ति साहित्य के निर्माण में इस मंदिर का स्थान अक्षुण्य रहेगा।”

चैतन्य महाप्रभु चैतन्य महाप्रभु प्रभावशाली व्यक्तित्व के स्वामी थे। भक्तिमार्ग में दीक्षित हो जाने के बाद शास्त्रार्थ में उनकी रुचि समाप्त हो गई, उपदेशक बनने की उन्हें याद नहीं रही तथा जयदेव, विद्यापति आदि की कृतियों, ब्रह्म संहिता तथा लीला शुक बिल्वमंगल के ‘कृष्णों कर्णामत’ को छोड़कर अपने भावावेश में कुछ पढ़ने का कभी अवसर नहीं मिला। राधा कृष्ण की लीलाओं का स्मरण और भावन, कृष्ण-संकीर्तन एवं हरिबोल का निरन्तर उच्चारण बस यही उनके नैमित्तिक कर्म, धर्म, प्रचार या शास्त्रार्थ थे। पर इनके पीछे संवेग की सान्द्रता, आत्मा की गहनता एवं गूढ़तम पुकार थी जिसने उन्हें इतना मोहक और प्रभावशाली बना दिया। इसके अतिरिक्त भक्ति आन्दोलन के अन्य आचार्यों में स्वामी हरिदास, गोस्वामी, हित हरिवंश आदि का भी नाम बड़े गौरव से लिया जाता है। भक्ति आन्दोलन

सामाजिक विषमता को मिटाकर सामाजिक समता का सन्देश देता है। वह जाति-पाँति, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब में किसी प्रकार का अन्तर नहीं मानता है। भक्ति आंदोलन वैयक्तिक और सामाजिक शुचिता पर भी बल देता है। चारित्रिक उन्नति का पक्ष लेता है। भक्ति आंदोलन धार्मिक उदारता पर टिका हुआ है। यह धार्मिक सदभाव का पक्षधर है। ब्रह्मचारों-बाह्याडम्बरों का तीव्र विरोध भक्ति-आंदोलन का मूल लक्ष्य रहा है। इसी लक्ष्य के कारण कबीर आदि संतों ने हिन्दू तथा मुसलमान किसी में कोई भेद नहीं माना है। वे दोनों धर्मावलम्बियों को समझाते हुए कहते हैं कि—

“कह हिन्दू राम पियारा, तुरक कहै रहमाना।

आपस में दोउ लरि लरि मुये, मरम न काहू जाना।

हिंदी भाषा एवं साहित्य के लिए भक्ति आंदोलन एक वरदान था। इस आन्दोलन से सम्बद्ध कवियों ने लोक भाषा में काव्य की रचनाएँ की हैं। कबीर ने एकता स्थापना का बड़ा विनम्र और प्रसन्न प्रयास किया है लेकिन कबीर ने संस्कृत को अस्वीकार करते हुए उसे कूप जल माना है। यथा—

“कबिरा संस्कीरत है कूप जल, भाषा बहता नीर।”

भक्तिकालीन साहित्य सच्चे अर्थों में संवेदनशील रहा है। साहित्यकारों का मानस स्वच्छ और उदार था। इसीलिए उनका साहित्य जन-भावनाओं की सहज, प्रवृत्तियों, परिस्थितियों, विकृतियों और विडम्बनाओं का एक विशाल शब्द-चित्त है। दूसरे शब्दों में उन्होंने तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्र अंकित किया है। भक्तिकालीन आन्दोलित साहित्य, आशावाद और आस्था की भावना संस्थापित करने में सहायक साहित्य है। यह जीवन-शक्ति का अजस्र स्रोत है। इसमें युग-बोध और युग-चेतना का व्यापक रूप प्रतिफलित है। भक्तिकालीन साहित्य रचियताओं ने तत्कालीन समाज को दोषमुक्त कर परिष्कृत बनाने की चेष्टा की है।

3.4 भक्तिकालीन काव्य धाराएं : वैशिष्ट्य और अवदान

संत काव्य धारा वैशिष्ट्य और अवदान

संत काव्य में कृत्रिम सौन्दर्य नहीं है, बल्कि उसमें वनराजि का स्वाभाविक सौन्दर्य है। इस काव्य में आध्यात्मिक विषयों की अभिव्यक्ति हुई है। पर वह जन-जीवन में डूबी हुई अनुभूतियों से सम्पन्न है। संत काव्य में अनेक धार्मिक सम्प्रदायों के प्रभाव को आत्मसात किया है, किन्तु इसमें धर्म अथवा साधना की कोई शास्त्रीय व्याख्या नहीं है, इस काव्य में जन-जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति अलंकार विहीन सीधी-साधी भाषा में हुई है। संत साहित्य साधना, लोकपक्ष तथा काव्य वैभव सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। संत -कवियों के विचार निजी अनुभूतियों पर आधारित हैं। संत साहित्य में एक अद्भुत विचारगत साम्य है।

1. अवतारवाद का खण्डन: सभी संतों ने राम कृष्ण अथवा अन्य किसी भी रूप में ईश्वर के अवतार लेने को मिथ्या और भ्रामक बताया है। बहुदेववाद का भी खंडन किया है। सभी संतों ने ब्रह्म, विष्णु तथा महेश की इसीलिए निन्दा की है कि वे भी माया ग्रस्त हैं। इस प्रकार की विचारधारा इस्लाम धर्म के एकेश्वरवाद के भी निकट है तथा शंकर के अद्वैत के अनुरूप भी है हिन्दू-मुस्लिम दोनों जातियों में विद्वेषाग्नि को शान्त करके उनमें एकता की स्थापना के लिए इन्होंने एकेश्वरवाद का संदेश सुनाया—

“यह सिर नवे न राम कूं नहीं गिरियो टूट।

आन देव नहिं परसिये, यह तन जायो छूट।।”

2. **जाति-पाँति के भेद-भाव का विरोध:** संत कवि जाति-पाँति के नियमों के कट्टर विरोधी थे। इनकी दृष्टि में सब मनुष्य बराबर थे तथा भगवद्-भक्ति का समान अधिकार था।

“जाति पाँति पूछे नहीं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।

संत सामाजिक क्रान्तिकारी थे। उन्होंने सामाजिक अन्याय का विरोध किया था। छुआछूत, हिन्दू-मुसलमान में विद्वेष और भेदभाव की उन्होंने खुलकर निन्दा की थी और मानव-मात्र को समान मानने की आवाज बुलंद की थी।

3. **रहस्यवादी प्रवृत्ति :** संत कवियों की रहस्य भावना सूफी कवियों के रहस्यवाद से भिन्न है, क्योंकि संतों ने आत्मा के संबंधों की समानता पति-पत्नी के संबंधों से करते हुए स्पष्ट रूप में यही माना है कि आत्मा परमात्मा से मिलने के लिए आतुर हो उठती है। संतों की रहस्यात्मक पद्धति भारतीय परम्परा के अनुकूल है। इस रहस्यवाद का मूल आधार अद्वैतवादी चिन्तन है। कबीर के कथनानुसार—

“जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी।

फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यह तत कहो गयानी।।”

संतों के रहस्यवाद पर योग का भी स्पष्ट प्रभाव है जहाँ इंगला, पिंगला और सहस्रदल कमल आदि प्रतीकों का प्रयोग है। इनमें रहस्यवाद वहाँ भी मिलता है, जहाँ वे उलटबाँसियों के रूप में गुह्य साधना का वर्णन करते हैं।

4. **संत काव्य में युग चेतना:** संत काव्य की महत्ता प्रतिपादित करते हुए डॉ. त्रिलोकी नारायण दीक्षित ने कहा है “संतों का व्यक्तित्व सच्चे अर्थों में संवेदनशील था। उनका मानस स्वच्छ और उदार था। इसलिए उनका साहित्य जन-भावनाओं की सहज प्रवृत्तियों, परिस्थितियों, विकृतियों, तथा विडम्बनाओं का एक विशाल शब्द-चित्र है। दूसरे शब्दों में, उन्होंने तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्र अंकित किया है। संतकाव्यधारा, आत्मविश्वास, आशावाद और आस्था की भावना संस्थापित करने में सहायक साहित्य है। उन्होंने तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्र अंकित किया है। संतकाव्य आत्मविश्वास, आशावाद और आस्था की भावना संस्थापित करने में सहायक साहित्य है। यह जीवन-शक्ति का अजस्र स्रोत है। इस काव्य का प्रमुख प्रयोजन है— त्रस्त, संतप्त, उपेक्षित, उत्पीड़ित मानव को परिज्ञान प्रदान करना। इसमें जीवन का स्वरूप विश्लेषण और व्याख्या उपलब्ध होती है। संक्षेप में, निर्गुण काव्य आचरण की पवित्रता का संदेश लेकर जनता के सम्मुख आया।

5. **निर्गुण की इसने :** संत काव्य की मूल भावना निर्गुण की इसने है। उनका निर्गुण बौद्ध साधकों के शून्य से पृथक है। वह संसार के प्रत्येक कण में व्याप्त है, वही प्रत्येक साँस में है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, कबीर का कहना है—

“पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान

कहिबे कूँ सोभा नहीं, देख्या ही परवान।।”

यद्यपि संतों ने अपने इस निर्गुण निराकार ब्रह्म को पौराणिक नाम ही प्रदान किया है, जैसे राम, कृष्ण, केशव, गोपाल आदि परन्तु इन पौराणिक महापुरुषों से अन्य बातों में वह इनसे नितान्त भिन्न है। कबीर ने इसी भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है—

“राम नाम तिहुँ लोक बखाना।

राम नाम का मरम है आना।।”

6. **गुरु की महत्ता:** सभी संतों ने ब्रह्म-साधना के लिए सद्गुरु का पथ-प्रदर्शन अनिवार्य माना है। सद्गुरु ही उन्हें परम तत्व के रहस्य से परिचित करा, उनके हृदय में उसके प्रति अनन्य प्रेम की भावना उत्पन्न करता है। नामदेव ने

गुरु महिमा को व्यक्त करते हुए कहा है—

“सुफल जनम मोको गुरु कीना।

दुख बिसार सुख अंतर दीना।

ज्ञान जान मोको गुरु दीना।

राम नाम बिन जीवन हीना।।”

7. रूढ़िवाद और मिथ्याडंबर का विरोध: भक्ति कालीन सभी संतों ने रूढ़ियों, मिथ्याडंबरों तथा अन्धविश्वासों की कटु आलोचना की है। इसका कारण इन लोगों का सिद्धों और नाथपंथियों से प्रभावित होना है। कबीर ने तिलक, छाया, माला, रोजा, नमाज, योग की क्रिया आदि को व्यर्थ ठहराया और इनके मानने वालों को फटकारा। उनकी भर्त्सना में चिढ़ या खीझ नहीं, परोक्ष रूप से उपदेश का भाव उभर रहा है—

“दुनिया कैसी बावरी, पाथर पूजन जाय।

घर की चकिया कोई न पूजै, जेहि का पीसा खाय।।”

8. लोक कल्याण की उत्कृष्ट भावना: संतों की साधना में वैयक्तिकता की अपेक्षा सामाजिकता अधिक है। नाथ सम्प्रदाय की साधना व्यक्तिगत और पद्धति शास्त्रीय थी, जबकि संतों की साधना सामाजिक और पद्धति स्वतंत्र है। इन्होंने जन-सामान्य में आत्म-गौरव की दीप्ति भर दी थी, जिसके कारण उन्होंने प्रत्येक प्रकार के अन्याय-अत्याचार का प्रतिरोध करने की शक्ति प्राप्त कर ली थी।

9. भाषा: अधिकांश संतों ने अपने काव्य की भाषा में प्रदेश विशेष की बोली के साथ ब्रज, अवधी, राजस्थानी, पंजाबी, हरियाणवी आदि शब्दावली को प्रयुक्त किया है, जिसे अधिकांश विद्वानों ने ‘सधुक्कड़ी’ भाषा कहा है। तत्कालीन परिवेश के अनुरूप संत-वाणी की रचना मुख्यतः जनता के अशिक्षित, उपेक्षित और पिछड़े हुए वर्गों के लिये हुई थी। संतों की भाषा अति सरल, कृत्रिमता विहीन और सहज है।

10. अलंकार : संत कवि अलंकारवादी भी नहीं थे, किन्तु उनकी कविता में अनेकानेक शब्दगत और अर्थगत अलंकार सहज रूप से आ गये हैं। उपमा, रूपक, दृष्टान्त, तद्गुण, स्वभावोक्ति, सहोक्ति, अत्युक्ति, विशेषोक्ति, अन्योक्ति, उल्लेख, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, असंगति, श्लेष, यमक, अनुप्रास, काव्यलिंग आदि अलंकार उनके काव्य को चमत्कार प्रदान करते हैं। संतों के रूपक जीवन की सामान्य प्रवृत्तियों एवं घटनाओं पर आधारित हैं। कबीर आदि के रूपक और प्रतीक बड़े सशक्त हैं और जीवन के व्यापक क्षेत्र से लिये गये हैं। संतों का साहित्य लोक-भावना का यथार्थ बिम्ब प्रस्तुत करता है। जीवन में आस्था और विश्वास का संदेश देता है। मध्ययुगीन सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं के भावात्मक निरूपण में यह काव्य अप्रतिम है। संतों ने अपने समय के मानव-समाज को दोषमुक्त कर परिष्कृत बनाने की चेष्टा की है।

सूफी काव्य धारा : वैशिष्ट्य और अवदान

भारत में सूफियों का प्रवेश ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती के समय हुआ। इन सूफियों की उदार मनोवृत्ति और आध्यात्मिक प्रेम-साधना से प्रभावित होकर कुछ सहृदय मुसलमान कवि इनके धर्मानुयायी बन काव्य रचना में प्रवृत्त हुए, और इनका काव्य ‘सूफी प्रेमाख्यानक काव्य’ की संज्ञा से जाना जाने लगा। अन्य देशों के साहित्य की भाँति अरबी-फारसी में भी सर्वप्रथम प्रेमकाव्य और वीरकाव्य की परम्परा उद्भूत हुई, किन्तु इस प्रेम परम्परा में परमात्मा के परम प्रेम और आंतरिक अनुभूतियों का चित्रण नहीं था, अरबी साहित्य की अपेक्षा प्रेम और रहस्य तथा सूफी सिद्धान्त का सम्यक प्रतिपादन फारसी साहित्य में हुआ है। इस समय हिन्दू और मुसलमानों के बीच सामाजिक, धार्मिक एवं

सांस्कृतिक संघर्ष का आविर्भाव था, इसलिए सूफियों को अपने प्रयास में अपेक्षित सफलता नहीं मिल पा रही थी। वे राजसत्ता के विरोध में पहले ही परास्त हो चुके थे। हिंदी के सूफी कवियों ने भारतीय लोक कथाओं, हिंदी भाषा, हिंदी छंद और भारतीय चरित्रों को अपने काव्य का उपजीव्य बनाकर हिन्दू जनता को सूफी सिद्धान्तों पर विमोहित करके उन्हें इस्लाम की ओर आकर्षित करने का प्रयास किया। हिन्दी के सूफी कवि भारतीयता के पोषक होकर भी इस्लाम के ही समर्थक हैं, क्योंकि यह 'आखिरी कलाम' में उनके वर्णन से ज्ञात हो जाता है। हिन्दू मुसलमान संस्कृतियों के प्रेम-पूर्ण काव्य की अभिव्यक्ति इसमें देखी जा सकती है। हिन्दू धर्म के प्रधान आदर्शों को मानते हुए भी सूफी सिद्धान्तों के निरूपण में मुसलमान साहित्यकारों की कुशलता है। इन दोनों भिन्न सिद्धान्तों के एकीकरण ने प्रेम-काव्य को सजीवता के साथ ही साथ लोकप्रियता भी प्रदान की। फलस्वरूप जिस प्रकार संत-काव्य की परम्परा धार्मिक काल के बाद भी चलती रही, उसी प्रकार प्रेम-काव्य की परम्परा भी धार्मिक काल के बाद भी साहित्य में दृष्टिगोचर होती रही है। सूफी काव्य में वैशिष्ट्य और अवदान की प्रक्रिया इस रूप में देखी जा सकती है।

1. लोक-पक्ष एवं हिन्दू संस्कृति का अवलोकन: सूफी प्रेम काव्यों में हिन्दू लोक-संस्कृति की वैयक्तिकता एवं सामाजिकता का चित्रण हुआ है। हिन्दू लोक-संस्कृति में व्याप्त अन्ध-विश्वास, जादू-टोना, मन्त्र, मनोतियाँ, तीर्थ, व्रत आदि का चित्रण हुआ है। लोकोत्सव, लोक-व्यवहार लोकाचार तथा लोकनाथ द्वारा हिन्दू लोक-संस्कृति में चली आ रही परम्परागत प्रेम कहानियों की पृष्ठभूमि, फारसी की मसन्वी शैली तथा इस्लाम धर्म की मान्यताओं को समन्वित करके प्रस्तुत किया गया है। प्रेमकाव्यों में षट्ऋतुओं का वर्णन और बारहमासा आदि का वर्णन भारतीय काव्य-परम्परा के अनुसार हुआ है।

(क) नारी के विषय में चित्रण: सूफियों ने प्रेम द्वारा प्राप्त की जाने वाली सुन्दर नारी को परमात्मा का प्रतीक माना है। प्रेम का प्रमुख पात्र नारी ही वह नूर है जिसके बिना सम्पूर्ण संसार अंधकारमय है। इन कवियों ने नारी का साध्य तथा प्रेम को साधन माना है। नारी का सौन्दर्य ईश्वरीय प्रतिच्छाया है। परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि "सूफी कवियों ने नारी को यहाँ अपनी प्रेम साधना के साध्य रूप में स्वीकार किया है जिसके कारण वह इनके यहाँ किसी प्रेमी के लौकिक जीवन की निरी भोग्य वस्तु मात्र नहीं रह जाती। वह उस समय की साधन-सामग्री भी नहीं कहला सकती जिसमें उसे बौद्ध सहजयानियों ने मुद्रा नाम देकर सहज साधना के लिए अपनाया था। वह उन साधनों की दृष्टि में स्वयं एक सिद्धि बनकर आती है और इसी कारण इन प्रेमाख्यानों में उसे प्रायः अलौकिक गुणों से युक्त भी बतलाया जाता है।

(ख) मनोवैज्ञानिक पद्धति: सूफियों ने ज्ञानमार्गी संतों की भाँति धर्म या जाति का खण्डन नहीं किया बल्कि मनोवैज्ञानिक आधार पर हिन्दुओं तथा मुसलमानों को प्रेम मार्ग में एक समान बताया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "प्रेमस्वरूप ईश्वर को सामने लाकर सूफी कवियों ने हिन्दू और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।"

2. सूफी काव्य में प्रेम-पक्ष: सूफियों का मुख्य प्रतिपाद्य प्रेम है और प्रेम के वियोग पक्ष को इन्होंने अधिक महत्त्व दिया है। सूफी कवियों ने प्रेम का जो चित्रण किया है, उस पर विदेशी और भारतीय दोनों शैलियों की छाप दृष्टिगोचर होती है। जायसी ने फारसी की शैली के अनुसार नायक को प्रेम में विह्वल तथा प्रेमपात्र की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील दिखाया है। भारतीय धर्म के अनुसार तो आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पुरुष मानकर पत्नी रूपी आत्मा को पुरुष रूपी परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील माना जाता है। सूफी कवियों ने प्रारम्भ में नायक को प्रियतमा (ईश्वर) की प्राप्ति में प्रयत्नशील दिखाने के बाद उपसंहार में नायिका (प्रियतमा) के प्रमोत्कर्ष को भी दिखलाया।

3. सूफी काव्य में प्रबन्धात्मता: सूफी रचनाकारों ने लौकिक प्रेम कहानियों के माध्यम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना की है। इन कवियों ने जिस प्रबन्धात्मकता को अपनाया है वह भारतीय महाकाव्य तथा फारसी 'मसन्वी

शैली' का मिश्रित रूप है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मसनवी को अन्योक्ति काव्य की संज्ञा दी है। सूफी कवियों के प्रेमाख्यान एक ही प्रकार के साँचे में ढले हुए लगते हैं, क्योंकि सभी का लक्ष्य प्रेम तत्त्व का निरूपण करना है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मानना है कि "कथानक को गति देने के लिए सूफी कवियों ने प्रायः उन सभी कथानक रूढ़ियों का व्यवहार किया है जो परम्परा से भारतीय कथाओं में व्यवहृत होती रही हैं, जैसे चित्र, दर्शन, स्वप्न, द्वारा अथवा शुक-सारिका आदि द्वारा नायिका का रूप देख या सुनकर उस पर आसक्त होना, पशु-पक्षियों की बातचीत से भावी घटना का संकेत पाना, मन्दिर या चित्रशाला में प्रिय युगल का मिलन होना इत्यादि।" सूफी काव्य में व्यवहृत कुछ ईरानी साहित्य की रूढ़ियों का भी वर्णन किया है, जैसे प्रेम-व्यापार में पाटियों और देवों का सहयोग आदि।

4. सूफी काव्य में धार्मिक सहिष्णुता: धार्मिक दृष्टिकोण से हिन्दूओं के वेदान्त और मुसलमानों के सूफीमत में बहुत साम्य है। मौलाना सैयद सुलेमान नदवी सूफीमत को वेदान्त से प्रभावित मानते हैं। उनका मत है, "इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि मुसलमान सूफियों पर भारत में आने के बाद, हिन्दू वेदान्तियों का प्रभाव पड़ा। इन दोनों धर्म के सिद्धांतों ने प्रेमकाव्य की रूप-रेखा का निर्माण किया। जो प्रेमकथाएँ मुसलमान कवियों द्वारा लिखी गयी है उनमें धार्मिक संकेत अवश्य हैं, पर जो प्रेम-कथाएँ हिन्दू साहित्यकारों द्वारा लिखी गयी है उनमें काव्यत्व और घटना वैचित्र्य ही प्रधान है। इतना अवश्य है कि हिन्दू प्रेम कथाकारों ने मुसलमानों द्वारा चलाई गयी प्रेम-कथा के आदर्शों का पूर्ण रूप से पालन किया है।

5. प्रतीक विधान का मार्मिक चित्रण: सूफी कवियों ने अपनी रचनाओं में कुछ शब्दों को सांकेतिक रूप में प्रयुक्त किया है, जिन्हें 'प्रतीक विधान' के अनुसार विशिष्ट सन् दर्भ में विशेष अर्थ के लिए प्रयोग किया है। जायसी द्वारा रचित 'पद्मावत' में इस प्रयोग को देखा जा सकता है; यथा

"तन चितउर मन राउर कीन्हा।

हिय सिंघल बुधि-पदमिनी चीन्हा।।"

तात्पर्य यह है शरीर तो चितौड़ है, मन राजा है, हृदय सिंघलद्वीप है और बुद्धि पदमिनी है। इसी प्रकार के प्रेमाख्यानों में प्रतीक-विधान देखा जा सकता है। संत काव्य धर्माश्रय एवं राजश्रय से दूर लोकाश्रय में मुक्त रूप में पोषित होने वाली यही एक परंपरा है जिसने तत्कालीन जनता की काव्य-रूचि एवं मनोरंजन की अभिलाषा को रोमांचक आख्यानों द्वारा भर दिया है। सूफी काव्य धारा के प्रमुख कवियों में मौलाना दाऊद, कुतुबन, जायसी, मंझन, उसमान आदि हुए हैं जिन्होंने अपने काव्य में सूफी काव्य परम्परा को अग्रसर किया है। सूफी कवियों का कथा क्षेत्र ऐतिहासिक और काल्पनिक दोनों ही है। ऐतिहासिक कथानकों के रूप में रत्नसेन एवं पद्मावती रहे हैं। सूफी कवियों द्वारा समस्त रचनाएँ एक प्रकार से कथा-रूपक के अन्तर्गत आती हैं। इनके प्रेमाख्यानों में नायक-नायिका को सांसारिक संबंधों के प्रति उदासीन दिखाया गया है। इन काव्यों में नायकों पर योगियों का प्रभाव दृष्टिगत होता है। नायक को जीवन और नायिका को ब्रह्मा का प्रतीक माना गया है। सूफी कवियों की लौकिक दृष्टि बड़ी सजग थी। अपने आस-पास के विस्तृत वातावरण को इन्होंने बखूबी प्रकट किया है। उनकी रचनाओं में भारतीय जीवन एवं संस्कृति का बड़ा सजीव चित्रण हुआ है। भारतीय सामाजिक जीवन के प्रतीक त्योहारों, उत्सवों एवं संस्कारों का इनकी रचनाओं में समावेश देखा जा सकता है। सूफी कवियों का प्रमुख काव्य आदर्श अध्यात्म विरह एवं प्रेम का निरूपण करना था, किन्तु इसके साथ ही यश की लालसा, लोकहित एवं कल्याण की भावना भी इनके काव्य में समाहित अंग है।

सगुण। निर्गुण रूप से हमारा तात्पर्य देह और दैहिक संबंधों से परे के राम जबकि सगुण राम अवतारी हैं, दशरथ-सुत के रूप में। भक्तिकालीन रामकाव्यधारा के कवियों ने निर्गुण राम की नहीं वरन सगुण रूप के राम की अवतारणा अपने काव्यों में की है। उन्होंने राम और रामकथा को देशकाल तथा जनजीवन के अनुरूप मानकर प्रस्तुत

किया है। रामकाव्यधारा में ऐसे विराट राम की प्रतिष्ठा हुई है और भक्तों तथा कवियों ने राम के इन्हीं रूपों की अर्चना—वंदना की है। रामकाव्यकारों के लिए राम सर्वत्र विद्यमान रहते हैं।

राम काव्यधारा की दार्शनिक चेतना पर कई दर्शनों का प्रभाव देखा जा सकता है। इसीलिए विद्वान उस पर शंकर के अद्वैतवाद तथा रामानुजाचार्य के विशिष्टता द्वैतवाद का प्रभाव अनुभव करते हैं। रामकथा के कवियों का प्रयोजन रामभक्ति था। वे व्यक्ति के मन की कालुष्य को समाप्त कर देना चाहते थे, इसीलिए रामभक्ति का सहारा लिया। रामभक्त कवियों के उपास्यदेव राम विष्णु के अवतार हैं और परमब्रह्म स्वरूप है। अरण्यकाण्ड में इस प्रकार स्तुति की गई है—

“जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म व्यापक विरज अज कहिं गावहीं।

करि ध्यान—ग्यान विराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं।।”

इनके राम में शील, शक्ति और सौन्दर्य का समन्वय है। वे मर्यादा पुरुषोत्तम है और आदर्श के प्रतिष्ठापक है। यही कारण है कि राम और सीता के नाम पर परवर्ती साहित्य में उच्छृंखल प्रेम उस रूप से चित्रित नहीं हुआ जैसा की राधा और कृष्ण के नाम पर।

1. **राम काव्य धारा में समन्वयात्मकता:** राम काव्य की समन्वयात्मक विचारधारा अत्यन्त उदार है। जिसमें ज्ञान, भक्ति, धर्म तथा कर्म का सुन्दर समन्वय तो है ही, साथ ही निर्गुण तथा सगुण में भी एकरूपता प्रकट होती है। तुलसीदास कहते हैं—

“अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा।

गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।।”

2. **राम काव्य में लोक मंगल की भावना:** राम भक्ति साहित्य में लोक मंगल की भावना को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। इसी भावना से राम को आदर्श लोक—सेवक, आदर्श गृहस्थ एवं आदर्श राजा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। आदर्श की प्रतिष्ठा राम के जीवन का अर्थ और इति है

“परहित सरिस धर्म नहिं भाई।

पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।”

राम भक्ति काव्य की प्रमुख विशेषता यह भी है कि उसमें साधारण लोगों के कल्याण की भावना को सर्वोच्च स्थान मिला है। लोक मंगल की भावना से ओत—प्रोत होकर राम को आदर्श लोक—सेवक तथा आदर्श गृहस्थ आदि के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सारे राम काव्य का केन्द्रीय भाव आदर्श समाज की स्थापना तथा लोक कल्याण की भावना को प्रसारित करना है। तुलसीदास ने रामराज्य की आदर्श कल्पना के लिए ही राम को आदर्श पुत्र तथा आदर्श राजा के रूप में स्थापित किया है। कौशल्या जैसी आदर्श माता, लक्ष्मण तथा भरत जैसे आदर्श भाई, सीता जैसी आदर्श पत्नी, हनुमान जैसे आदर्श सेवक एवं भक्त तथा सुग्रीव जैसे आदर्श मित्र आदि की कल्पना एवं स्थापना से लोक संग्रह की भावना ही स्पष्ट होती है। राक्षसों को अर्थात् अत्याचारियों का नाश करके आदर्श समाज की स्थापना करना ही राम काव्य की विशेषता है।

3. **आदर्श पात्रों का चरित्र चित्रण:** राम भक्ति साहित्य में ऐसे पात्रों को विशेष महत्त्व दिया गया है जो अपने सदाचार से लोक में मर्यादा तथा आदर्श की स्थापना करने वाले हो। राम काव्य की यह विशेषता है कि उसमें सत और असत, सज्जन तथा दुर्जन, अच्छे और बुरे, सतोगुणी रजोगुणी, तथा तमोगुणी सभी प्रकार के पात्रों का चित्रण किया गया है। अन्त में असत्य पर सत्य की अथवा ‘रावणत्व’ पर ‘रामत्व’ की विजय दिखाई गई है। अन्त में दुर्जनों को दण्ड तथा सज्जनों को सफलता मिलती दिखाई गई है। राम को स्वयं ब्रह्मस्वरूप होते हुए भी मानव के रूप में

लीला करते हुए दिखाकर तुलसी ने सिद्ध किया है कि अन्त में रामत्व की ही विजय होती है क्योंकि पापियों का संहार करने के लिए राम को नर रूप धारण करना पड़ता है।

4. जगत तथा जीवात्मा संबंधी विचार – राम काव्य में सारे संसार को ही राम तथा सीता युक्त माना है और इसीलिए तुलसीदास ने कहा है—

**“सिया राम मय सब जग जानी,
करउँ प्रनाम जोरि—जुग पानी।”**

यह सारा संसार ही राम और सीता की लीला—स्थली है। रामपरम पुरुष चेतन सीता प्रकृति है। पुरुष तथा प्रकृति से ही यह सारी सृष्टि व्याप्त है। जीवात्माएँ उसी परम पुरुष का अंश है।

5. वैधी भक्ति का अनुसरण: रामभक्ति काव्य ऐसी भक्ति का अनुसरण करता है। जिसे शास्त्रीय शब्दावली में ‘वैधी भक्ति’ माना जा सकता है। वैधी भक्ति में श्रद्धा और प्रेम का समन्वय होता है तथा भागवत पुराण में वर्णित नवधा भक्ति के प्रायः अधिकांश लक्षण मिलते हैं। कीर्तन—भाव से जो नियम बनाये जाते हैं उन्हें ‘विधि’ माना जाता है और विधि के अनुसार की गई भक्ति को वैधी भक्ति कहते हैं। वैधी भक्ति में साधक या भक्त शरीर, मन, आत्मा, प्रकृति और समाजगत अनुशीलों द्वारा भगवान का भजन करते हैं। राम भक्तों के इष्ट ‘राम’ का शील, शक्ति और सौन्दर्य ही ऐसा है जिस पर साधक या भक्त अपने तन—मन और आत्मा से मुग्ध हो जाता है और अपने को राम का सेवक या दास समझकर भक्ति करता है, इसी कारण तुलसी की भक्ति को दास्य भाव की भक्ति भी माना जाता है क्योंकि तुलसीदास ने कहा है—

**“सेवक सेव्य भाव बिनु,
भव न तरिय उरगारि।”**

वैधी भक्ति में हरि—कीर्तन और सत्संग का विशेष महत्त्व होता है, इसीलिए कहा गया है—

“बिनु सत संग बिबेक न होई।

राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।।”

इसी कारण राम भक्ति का अनुसरण करने वाले भक्तों तथा कवियों ने ‘राम नाम’ के कीर्तन तथा सत्संग करने को भक्ति का एक साधन बताया है। राम भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता है कि सामाजिक प्रतिबद्धता और मूल्य—बोध की प्रबल प्रेरणा। यह निश्चित है कि जिस समय वाल्मीकि रामायण की रचना हुई होगी, उस समय समाज व्यवस्था के आधारभूत आदर्शों की स्थापना की बहुत बड़ी आवश्यकता अनुभव की जाती रही होगी। तब से आदि रामायण सभी आदर्शवेताओं भक्तों और भक्तकवियों की प्रेरणा का अक्षय स्रोत बनी रही है। इसका चरमोत्कर्ष तुलसी—काव्य में मिलता है। तुलसी ने धर्म की जीवन—सापेक्ष व्यावहारिक व्याख्या प्रस्तुत की है और आचार दर्शन या शील सौन्दर्य और कर्म—सौन्दर्य को ही धर्म कहा है। धर्म सभी सत्कर्मों की समष्टि है, धर्म जीवन की व्यापक व्यवस्था है यह मूल्यबोध विष्णुदास की रामायण—कथा में भी देखने को मिलता है। सूरदास के रामावतार संबंधी पदों में भी पवित्रता सतीत्व और वीरता के उदात्त की अभिव्यक्ति हुई है।

राम काव्य परम्परा की अन्य विशेषता एवं अवदान पाप का सक्रिय प्रतिरोध और शौर्य है। समूचे भक्ति—काव्य में जिसे सच्चे अर्थों में शक्ति काव्य कहा जा सकता है, वह रामकाव्य ही है। इस काव्य में पाप और पतन के विरुद्ध सक्रिय प्रतिरोध और संघर्ष निरूपित किया गया है। रामभक्ति काव्य की धारा में सामाजिक संवेदना बड़ी गहरी है। सामाजिक दृष्टि से रामभक्ति काव्य की महत्ता विशेष रूप से रही है। जिस समय रामभक्ति काव्य का प्रणयन हो रहा था उस समय का समाज अनेक प्रकार की भ्रांतियों का और रूढ़िवादिता का सामना कर रहा था।

मुगलों के शासन के कारण भारतीय संस्कृति खतरे में पड़ी थी। ऐसे विषम समय में रामभक्ति काव्य प्रणेताओं ने भारतीय समाज को पुनर्गठित किया।

प्रकृति को मानव की चिर सहचरी माना जाता है। रामभक्ति के कवियों ने राम की इसने करते हुए प्रकृति के अनेक रूपों को अपनी रचनाओं में पर्याप्त स्थान प्रदान किया है। इन कृतियों में वन, जंगल, पहाड़, ग्राम, जन-जीवन, सरिता, आदि का समावेश किया है। रामकाव्य धारा का हिंदी साहित्य जगत में विशेष स्थान है। रामकाव्यधारा में उपास्य श्री राम हैं जिनका व्यक्तित्व और चरित्र अति उत्तम है। राम शील व संकोच, मर्यादा और महानता की पराकाष्ठा पर आरूढ है। उनके चरित्र में भारतीय संस्कृति-हिन्दू धर्म के दर्शन होते हैं। रामभक्ति काव्य मानवीय मूल्यों की मंजूषा है। रामभक्ति काव्यधारा की सबसे बड़ी उपलब्धि उसकी समन्वय साधना रही है। समन्वय की अंतः चेष्टा के माध्यम से तुलसी आदि कवियों ने उस समय के मानव-मानव को एक करने के प्रशस्त कार्य को अंजाम दिया। राम को आश्रय बनाकर कवियों ने जीवन-यापन का सफल संदेश दिया है।

कृष्ण काव्यधारा : वैशिष्ट्य और अवदान

कृष्ण काव्यधारा के वैशिष्ट्य और अवदान को स्पष्ट जानने के लिए इसे हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—

1. वस्तुगत वैशिष्ट्य और अवदान
2. भावगत वैशिष्ट्य और अवदान
3. शिल्पगत वैशिष्ट्य और अवदान

वस्तुगत वैशिष्ट्य और अवदान

1. **निर्गुण के स्थान पर सगुण की आराधना:** कृष्ण काव्य धारा के कवियों ने निर्गुण के स्थान पर सगुण ब्रह्म को प्रमुखता दी है क्योंकि साधना के स्तर पर उसे ज्ञानी ही जान सकते हैं। भक्तों में ज्ञान का अभाव होता है। वह आँखों के सामने नहीं दिखाई पड़ता। सगुण ब्रह्म निरन्तर उनके सामने दिखाई पड़ता है। इसलिए उसकी साधना सरल होती है।

2. **श्रीकृष्ण का मानवी और अवतारी रूप:** इस काव्य धारा के रचनाकार प्रभु श्री कृष्ण के दो रूपों का चित्रण करते हैं—मानवी और अवतारी। मानवी रूप में वे नन्द यशोदा और देवकी-वासुदेव के पुत्र हैं। अवतारी रूप में वे एक ईश्वर हैं।

3. **तत्कालीन समाज और संस्कृति:** इस युग के काव्यकारों ने तत्कालीन समाज और उसमें फलती-फूलती संस्कृति का यथार्थ वर्णन किया है।

भावगत वैशिष्ट्य और अवदान

1. **वात्सल्य और शृंगाररस :** कृष्ण काव्य धारा के सभी रचनाकारों ने वात्सल्य और शृंगाररस को प्रमुखता दी है। वात्सल्य प्राणिमात्र के मन की एक वृत्ति होती है। वात्सल्य वर्णन में कृष्णभक्त कवियों ने श्री कृष्ण के बाल्यकाल से लेकर किशोरावस्था की विभिन्न क्रीड़ाओं का सफल चित्रण प्रस्तुत किया है। इसमें सूर का वात्सल्य सबसे निराला कहा जा सकता है। यह वर्णन जितना यथार्थ है उतना की सहज एवं मार्मिक।

2. **विरहानुभूति चित्रण:** कृष्ण काव्य धारा के रचनाकारों ने वियोग शृंगार के अन्तर्गत विरह की विभिन्न भूमियों का सजीव रूप चित्रित किया है। विरह की अनेकों दशाएँ इस काव्य में प्रस्तुत की गई हैं। इन कवियों का विरह संवेदनाजन्य है।

शिल्पगत वैशिष्ट्य और अवदान

(क) **मुक्तक काव्य—रचना:** कृष्ण काव्य धारा के रचनाकारों ने प्रबंध रचनाओं का निर्माण न करके मुक्तक काव्यों का निर्माण किया है। कीर्तन भजन—जन्य आतुरता इनके काव्य रूपों में देखी जा सकती है। इन रचनाकारों ने पदों की रचना की है।

(ख) **बिम्ब तथा प्रतीक विधान:** कृष्ण काव्यकारों ने बिम्बों और प्रतीकों का प्रयोग रसानुभूति के लिए किया है। भ्रमरगीत में सन्दर्भित पदों में 'भ्रमर' का प्रयोग प्रतीक रूप में किया गया है।

कृष्ण भक्ति काव्य में दार्शनिकता

कृष्ण भक्ति काव्य का मुख्य उद्देश्य तो शंकर के अद्वैत दर्शन का खण्डन करके सगुण कृष्ण भक्ति की स्थापना करना है। कृष्ण भक्ति साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि स्वामी बल्लभाचार्य तथा स्वामी हितहरिवंश के राधावल्लभी सम्प्रदायों से निर्मित हुई 'पुष्टिमार्गीय', प्रेमा रागानुगा तथा माधुर्य भाव की मधुरा भक्ति माना है। उस भक्ति की दार्शनिक मान्यताएँ तो भागवत पुराण में वर्णित पुष्टिमार्गी जीवन दर्शन है।

कृष्ण काव्य के वैशिष्ट्य और अवदान को इस रूप में प्रकट किया जा सकता है।

1. भक्ति का स्वरूप प्रेम: कृष्ण भक्ति का आधार प्रेम है। इस प्रकार उनकी भक्ति को प्रेमा—भक्ति अथवा रागानुगा—भक्ति माना जाता है। जब कृष्ण के प्रति अगाध प्रेम अथवा आसक्ति हो जाती है, तब स्वाभाविक रूप से सांसारिक भोग—विलास आदि विषयों से विरक्ति हो जाती है। अतः कृष्ण भक्ति में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों वृत्तियाँ ही कलात्मक रूप में समन्वित दिखाई देती हैं कृष्ण—भक्तों की ऐसी 'प्रेमा—भक्ति' वात्सल्य, सख्य तथा माधुर्य आदि तीनों रूपों को धारण करने वाली त्रिवेणी है। वास्तव में यदि मनोवैज्ञानिक तथा काव्य शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाये तो उपर्युक्त तीनों भाव श्रृंगार रस के तीन पृथक—पृथक स्थायी भाव हैं। जैसे पुत्र—विषयक रति से वात्सल्य रस, मित्र—विषयक रति से श्रृंगार एवं माधुर्य रस तथा गुरु विषयक रति से भक्ति रस निष्पन्न होता है। प्रेम का चरम रूप माधुर्यमयी मधुर भक्ति में देखा जा सकता है क्योंकि ऐसी स्थिति में भक्त तथा भगवान में कोई भेद नहीं रहता है।

2. जीव तथा ब्रह्म के रूप की चर्चा: आचार्य बल्लभ के दार्शनिक विचारों के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जीव और जगत उसी ब्रह्म के सत और चित्त अंश है। वही ब्रह्म आनन्दमय श्री कृष्ण के रूप में नित्य लीलामय है। बल्लभ का सिद्धान्त दार्शनिक शब्दावली में शुद्धाद्वैतवाद माना जाता है। इस दर्शन के अनुसार ब्रह्म सगुण है जो साक्षात् कृष्ण के रूप में देखा जा सकता है। कृष्ण पूर्ण रूप से सोलह कला पूर्ण रसमय है। श्रीकृष्ण का धाम गोकूल है तथा गोपों, गोपियों, यमुना, वृन्दावन, लताएँ, कुंजे आदि सभी जगतवादी जीवात्माएँ कृष्ण का ही अंश है। राधा—कृष्ण ही इष्टदेव हैं।

3. वेद—मर्यादा तथा कर्मकाण्ड पर चर्चा: कृष्ण भगतजनों का जीवन—दर्शन है कि समस्त प्राणी चेतना का रागमय अथवा कृष्णमय हो जाना ही सच्चा ज्ञान है, जो प्रेमा—भक्ति से सभी कृष्ण—भक्तों को सुलभ है। इसलिए कृष्ण भक्त वैदिक मर्यादा जप, तप, योग तथा कर्मकाण्ड को महत्त्व न देकर केवल 'प्रेम' पर बल देते हैं।

4. निवृत्ति और प्रवृत्ति के बारे में विचार: बल्लभाचार्य द्वारा स्थापित दर्शन में निवृत्ति तथा प्रवृत्ति दोनों ही जीवन मार्गों का अनुपम योग है। मुख्य रूप से प्रवृत्ति का पोषक होते हुए भी स्वाभाविक निवृत्ति को अपनाया जाना कृष्ण—भक्तों की विशेषता है। मनोविकारों और मन की सभी प्रवृत्तियों को कृष्णोन्मुख करना तो प्रवृत्ति मार्ग है तथा कृष्णलीला उस प्रवृत्ति मार्ग का साधन है। स्वाभाविक रूप में जब भक्त प्रेम से उन्मुक्त होकर कृष्णमय हो जाता है तो वह संसारी क्रियाकलापों से विरक्त हो जाता है जिसे निवृत्ति मार्ग कहा है। नवधा—भक्ति में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों

मार्गों का सम्मिश्रण है।

5. श्रीकृष्ण के विभिन्न नामों का उल्लेख: श्री कृष्ण जो स्वयं ब्रह्म-स्वरूप है उनका सौन्दर्य अद्वितीय है। उन्हें लीलाचारी, नटवर नागर, श्याम मुरारी, गोविन्द, गिरिधर, घनश्याम, राधेश्याम, बांकेबिहारी, रसीले कृष्ण आदि अनेक नामों से संबोधित करते हुए कृष्ण भक्ति में नाम स्मरण का भी विशेष महत्त्व है, क्योंकि भक्त को अपनी इच्छानुसार जो नाम प्रिय लगे उसी का स्मरण करे।

6. सत्संग तथा गुरु की महिमा: कृष्ण-भक्ति दर्शन में सत्संग, कीर्तन, संगीत तथा रासलीलाओं पर विशेष बल दिया जाता है। गुरु की महिमा तो सभी कृष्ण भक्तों ने गाई है। गुरु-कृपा से ही भक्त, प्रेमा-भक्ति में अनुरक्त होता है।

7. लोकमंगल की अपेक्षा लोकरंजन को प्रमुखता: पुष्टिमार्गीय कृष्ण-भक्तजनों तथा अन्यो ने लोकमंगल की भावना को अधिक महत्त्व नहीं दिया जितना महत्त्व उन्होंने लोकरंजन को दिया है। लोकरंजन की भावना पर अधिक बल इसलिए भी दिया गया क्योंकि प्रवृत्ति मार्ग के अनुसार लोक मनोरंजन, ऐन्द्रिय आकर्षण तथा तुष्टि से ही भक्त को प्रेम का अद्भुत आनन्द मिलता है।

8. रासलीलाओं के भिन्न-भिन्न रूपों की चर्चा: कृष्ण भक्ति के क्षेत्र में कृष्ण की जीवन संबंधी अनेक प्रकार की लीलाओं को चित्रित करके पुष्टिमार्गीय जीवन दर्शन की ख्याति फैलाई है। इसीलिए, भगवान कृष्ण को गोपियों के साथ नृत्य करते हुए भी दिखाया जाता है और गलों के साथ माखन-चोरी करते हुए भी दिखाया है। लगभग कृष्ण सभी लीलाएँ करके भी उनसे निर्लिप्त रहते हैं। इनके अनेक रूपों का चित्रण इस प्रकार किया जा सकता है—

ब्रह्म को सगुण तथा साकार रूप में मानना: कृष्ण भक्ति साहित्य में सगुण ब्रह्म की इसने करने ही रीति है। कृष्ण भक्तों की मान्यता है कि कृष्ण ही ब्रह्म अथवा ईश्वर है जो साकार एवं सगुण है। कृष्ण की नित्य अजर-अमर है। अतः कृष्ण काव्य की यही प्रमुख विशेषता है कि उसमें कृष्ण एवं राधा को ही इष्ट माना है।

अवतारवाद : कृष्ण-भक्तों में विष्णु के अवतार कृष्ण को दुष्टों का संहार तथा सज्जनों

का उद्धार करते हुए दिखाने की प्रवृत्ति है। जब अधर्म तथा पाप चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं तब बैकुण्ठ-धाम से विष्णु को कृष्ण के रूप में अवतार लेना पड़ता है। अपनी लीला का प्रदर्शन करना भी अवतार का स्वभाव है।

प्रेम-भाव का निरूपण: कृष्ण-भक्तों ने भक्ति का आधार एकमात्र प्रेम तत्त्व ही माना है। प्रेम की उच्चतम कोटि मधुरा भक्ति है। कृष्ण के प्रति प्रकट किया गया सच्चा प्रेम ही शृंगार रस का स्थायी भाव 'रति' है जो भक्तों की भावनानुसार 'वात्सल्य' 'संख्य' तथा 'माधुर्य' भाव में परिणत होता है। इसीलिए शृंगारी भाव ही प्रधान है।

ब्राह्माडम्बरों का विरोध: कृष्ण भक्ति में प्रेम का पंथ ही अनूठा रहा है। इसमें जप, तप, योग तथा वैदिक कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं। प्रेम को किसी ब्रह्माडम्बर की आवश्यकता नहीं, वह तो हृदय की अनुभूति कही जा सकती है।

वात्सल्य, शृंगार तथा शान्त रस की प्रधानता: सम्पूर्ण कृष्ण काव्य में प्रमुख रूप से वात्सल्य शृंगार तथा माधुर्य जन्य शान्त रस की अभिव्यक्ति मिलती है।

संगीत की ओर प्रवृत्ति: कृष्ण-भक्ति साहित्य में संगीत-माधुरी को महत्त्व प्रदान करने के लिए ही अधिकांश भक्ति पद राग-रागिनियों में निबद्ध है। सूरदास, नन्ददास तथा मीरा के पद संगीतमय साहित्य के प्रमाण है।

प्रकृति चित्रण: कृष्ण भक्ति साहित्य भावात्मक काव्य है। ब्रह्म प्रकृति का चित्रण इसमें या तो भाव की पृष्ठभूमि में हुआ है या उद्दीपन भाव के लिए। डॉ. ब्रजेश्वर ने लिखा है, "दृश्यमान जगत का कोई भी सौन्दर्य उनकी आँखों से छूट नहीं सका। पृथ्वी, आकाश, जलाशय, वन-प्रान्त तथा कुंज-भवन की सम्पूर्ण शोभा इन कवियों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में निःशेष कर दी है।"

काव्य रूप: कृष्ण काव्य का सृजन प्रायः मुक्तक शैली में हुआ है। कृष्ण काव्य में एक प्रबन्ध काव्य भी मिलता है, जिसकी रचना शुद्ध ब्रजभाषा में हुई। ग्रंथ का नाम है, 'ब्रज विलास' नन्ददास के भँवरगीत, रास पंचाध्यायी आदि में कथात्मकता की मनोवृत्ति देखी जा सकती है।

3.5 भक्ति काल : स्वर्ण युग

हिंदी साहित्य के भक्तिकालीन समय को साहित्यिक क्षेत्र का स्वर्ण युग माना जाता है। भक्तिकाल निस्संदेह हिंदी साहित्य का स्वर्ण युग है। इस काल का साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य से निश्चित रूप में उत्कृष्ट है। भक्तिकाल से पूर्व हिंदी के आदिकाल अथवा वीरगाथा काल में कविता वीर और शृंगार-रस प्रधान थी, जीवन की अन्य दशाओं और क्षेत्रों की ओर कवियों का ध्यान गया ही नहीं। इस काल के चारण कवि राज्याश्रित थे और उनकी कविता अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशस्तिमात्र थी। सर्वोपरि इस काल के साहित्य की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। भक्तिकाल के उत्तरवर्ती साहित्य में रीतियुक्त अथवा शृंगार-प्रधान कविता का बोलबाला रहा है। इस काल की कविता में भी जीवन की स्वस्थ प्रेरणाएँ नहीं रहीं एकमात्र शृंगार की ही इस युग में प्रधानता है। और उसमें भी अश्लीलता अधिक है। वस्तुतः रीतिकालीन कविता 'स्वान्तः सुखाय' अथवा 'जनहिताय' न होकर 'सामन्त सुखाय' है। आधुनिक काल का साहित्य अपनी व्यापकता एवं विविधता की दृष्टि से भक्तिकाल से आगे निकल जाता है। विशेषकर गद्य-साहित्य का विकास जितना आधुनिक युग में हुआ है, उतना भक्तिकाल में नहीं। इसके विपरीत भक्तिकाल में गद्य का प्रायः अभाव सा ही रहा है परन्तु अनुभूति की गहराई एवं भाव-प्रवणता के क्षेत्र में आधुनिक युग का साहित्य भक्तिकाल के साहित्य की समकक्षता में नहीं रखा जा सकता।

भक्तिकालीन साहित्य को हिंदी साहित्य का स्वर्ण युग माना गया है। इस सन्दर्भ में अधिकांश विद्वानों का एक मत है। इस संदर्भ में कुछ मत उल्लेखनीय हैं—

बाबू श्यामसुन्दर दास का मत भक्तिकाल में अनेक भक्त कवियों—कबीर, सूर, तुलसी, मीराबाई, रसखान आदि की वाणी (साहित्य) की सरिता अगाध रूप में बही है। डॉ. श्यामसुन्दर दास के शब्दों में —'जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे रससिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अन्तःकरणों से निकलकर देश के कोने-कोने में फैली थी, उसे साहित्य के इतिहास में सामान्यतः भक्तियुग कहते हैं। निश्चय ही वह हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग था' इस संदर्भ में आगे लिखते हैं— 'हिंदी-काव्य में से यदि वैष्णव कवियों के काव्य को निकाल दिया जाए तो जो बचेगा वह इतना हल्का होगा कि उस पर किसी प्रकार का गर्व न कर सकेंगे। लगभग दो सौ वर्षों की इस हृदय और मन की साधना के बल पर ही हिन्दी अपना सिर प्रान्तीय साहित्यों के ऊपर उठाये हुए है। तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, मीरा, रसखान, हितहरिवंश, कबीर इनमें से किसी पर भी संसार का कोई साहित्य गर्व कर सकता है। हमारे पास ये सब हैं। ये वैष्णव कवि हिंदी भारती के कण्ठमाल हैं।'

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपना मत स्पष्ट करते हुए लिखा है। "समूचे भारतीय इतिहास में ये अपने ढंग का अकेला साहित्य है। इसमें प्रेम,उल्लास और महान् साधना का सुंदर समन्वय है। सैंकड़ों वर्ष पहले इस भक्ति काव्य ने निराश भारतीय जनता को सुखपूर्वक जीने का सहारा दिया था और वही कार्य यह साहित्य आज भी कर रहा है। आशा है कि भविष्य में भारतीय समाज इससे प्रेरणा प्राप्त कर तृप्त होता रहेगा। इस काव्य की आत्मा भक्ति है और जीवन स्रोत रस है। बाबू गुलाब राय ने हिंदी साहित्य के इस काल को स्वर्ण युग के नाम से अभिहित किया ।

निम्नलिखित विशेषताओं के कारण इस युग को स्वर्णयुग से अभिहित किया गया है—

1 भक्तिकालीन काव्य सर्वोत्तम काव्य के रूप में: अंग्रेजों का मानना है कि 'यदि हमारे सम्मुख एक ओर शेक्सपियर

रखा जाए और दूसरी ओर विश्व का साम्राज्य, तो हम पहले शेक्सपियर को ही चुनेंगे। 'हमारे यहाँ सूर, तुलसी, नन्ददास आदि कितने ही शेक्सपियर हुए हैं जो भारती के कण्ठहार हैं।' इस प्रकार हिंदी के समालोचकों ने एकमत से हिंदी साहित्य के भक्तिकाल को हिंदी का स्वर्णयुग माना है यह काल हिंदी काव्य की चतुर्मुखी उन्नति का काल था। काव्य—सौष्टव, समन्वयवाद, भारतीय—संस्कृति, भावपक्ष, कलापक्ष और संगीत आदि सभी दृष्टियों से यह काव्य सर्वोत्तम है। यह एक साथ हृदय, मन और आत्मा की तृप्ति करता है।

भक्तिकालीन हिंदी साहित्य की चार काव्यधाराएँ: भक्तिकालीन काव्य की विविध रूपों में प्रगति हुई। इस काल की चार काव्य—धाराओं ने एक साथ हिंदी साहित्य की वृद्धि कर डाली। चार काव्यधाराएँ निम्नलिखित हैं—

1. संत काव्य धारा: संत काव्यधारा के प्रमुख कवि कबीर हैं। इनके अतिरिक्त दादूदयाल, नानक, सुन्दरदास आदि का स्थान संतों में महत्त्वपूर्ण है। कबीर आदि संतों के साहित्य में रहस्यवाद, भक्ति, खण्डन—मण्डन एवं सुधार की भावनाएँ हैं। काव्यत्व की दृष्टि से भी इनके काव्य में शब्दगत, अर्थगत एवं रसगत रमणीयता विद्यमान है। कबीर ने 'साखी', 'शब्द', 'रमैनी' की रचना की है, जो 'बीजक' कृति में विद्यमान है। संत कबीर ने माया को जीव और ब्रह्म के मध्य भेद डालने वाली शक्ति बताया है। इसने अपने हाथ में सत, रज, तप, तीनों गुणों को धारण कर रखा है—

“माया महा ठगिनि हम जानी।

तिरगुन फाँसि लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी।।”

संत मलूकदास को भी समस्त संसार मरा हुआ प्रतीत होता है। और संसार का समस्त ऐश्वर्य 'फटकन' लगता है।

“जेते सुख संसार के इकट्ठे किये बटोर।

कन थोरे कांकर घने, देखा फटक पछोर।।”

इसीलिए संतों ने बाह्यचारों एवं बाह्याडम्बरों के खण्डन द्वारा लोकमानस को धर्म के मूल रूप को समझने के लिए उद्बोधित किया इस उद्बोधन में उन्होंने हिन्दू और मुसलमान की एकता का प्रतिपादन किया। जातिय एकता की स्थापना की, ब्राह्मणों के थोथे ज्ञान को दमित किया लोगों को समाज तथा धर्म की संकुचित सीमा को तजकर सार्वभौमिक और सार्वकालिक जीवन—मूल्यों को अंगीकार करने की सलाह दी।

“कछु न कहाव आप कौ, काहू संग न जाइ।

दादू निर्परव है रहै, साहिब सौं ल्यौ लाइ।।”

2. प्रेम काव्य धारा

प्रेमकाव्य के कवियों में जायसी, कुतुबन, मंझन, उसमान आदि प्रमुख हैं। इस शाखा के प्रतिनिधि कवि जायसी हैं। उनका 'पद्मावत' हिंदी का प्रथम सफल महाकाव्य है। जायसी आदि प्रेममार्गी कवि सूफी मुसलमान हैं, परन्तु उन्होंने अपनी सहिष्णुता, उदारता आदि गुणों से हिन्दू मुस्लिम संस्कृति में एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। ये कवि 'प्रेम की पीर' के कवि हैं। लौकिक प्रेमकथाओं के माध्यम से उन्होंने आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना की है। ये कवि भी रहस्यवादी हैं। शुक्ल जी ने इन्हीं के रहस्यवाद को शुद्ध भावात्मक रहस्यवाद माना है।

सूफियों की सम्पूर्ण साधना प्रेम पर आश्रित है। उन्होंने ईश्वर को प्रियतम माना है। उनके लिए वह अमूर्त होता हुआ भी मूर्तिमान सौंदर्य है, माधुर्य लोक का शासक है और प्रेम का प्रचारक है। प्रेमी कवि बरक्तुल्ला ने कहा है कि कहीं, ईश्वर, कहीं प्रेमी और कहीं प्रियतम तथा कहीं स्वयं प्रेम है—

“कहीं माशूक कर जाना, कहीं आशिक सितां माना।

कहीं खुद इश्क ठहराना, सुनो लोगों सुखावानी।।

3. राम काव्य धारा

राम काव्य जीवन की आदर्श कथा है। जीवन जैसा विविध और व्यापक है रामकथा या राम काव्य भी उतना ही विस्तृत और बहुमुखी है। राम काव्य में जीवन अपनी विराटता के साथ व्यक्त हुआ है। भक्तिकाल में ऐसे राम काव्य को निम्नलिखित दृष्टिकोणों से देखा गया है।

राम के दो रूप माने गये हैं—एक निर्गुण रूप है तो दूसरा सगुण। निर्गुण रूप से हमारा तात्पर्य देह और दैहिक संबंधों से परे के राम जबकि सगुण राम अवतारी हैं, दशरथ—सुत के रूप में। भक्तिकालीन रामकाव्यधारा के कवियों ने निर्गुण राम की नहीं वरन सगुण रूप के राम की अवतारणा अपने काव्यों में की है। उन्होंने राम और रामकथा को देशकाल तथा जनजीवन के अनुरूप मानकर प्रस्तुत किया है। रामकाव्यधारा में ऐसे विराट राम की प्रतिष्ठा हुई है और भक्तों तथा कवियों ने राम के इन्हीं रूपों की अर्चना—वन्दना की है। रामकाव्यकारों के लिए राम सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। साथ ही निर्गुण तथा सगुण में भी एकरूपता प्रकट होती है। तुलसीदास कहते हैं—

“अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा।

गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।।”

राम काव्यधारा की दार्शनिक चेतना पर कई दर्शनों का प्रभाव देखा जा सकता है। इसीलिए विद्वान उस पर शंकर के अद्वैतवाद तथा रामानुजाचार्य के विशिष्टता द्वैतवाद का प्रभाव अनुभव करते हैं। रामकथा के कवियों का प्रयोजन रामभक्ति था। वे व्यक्ति के मन की कालुष्य को समाप्त कर देना चाहते थे, इसीलिए रामभक्ति का सहारा लिया। रामभक्त कवियों के उपास्यदेव राम विष्णु के अवतार हैं और परमब्रह्म स्वरूप है। अरण्यकाण्ड में इस प्रकार स्तुति की गई है—

“जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म व्यापक विरज अज कहिं गावहीं।

करि ध्यान—ग्यान विराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं।।”

4. कृष्ण काव्य धारा

कृष्ण काव्य धारा के कवियों ने निर्गुण के स्थान पर सगुण ब्रह्म को प्रमुखता दी है क्योंकि साधना के स्तर पर उसे ज्ञानी ही जान सकते हैं। भक्तों में ज्ञान का अभाव होता है। वह आँखों के सामने नहीं दिखाई पड़ता। सगुण ब्रह्म निरन्तर उनके सामने दिखाई पड़ता है। इसलिए उसकी साधना सरल होती है।

कृष्ण काव्य का मुख्य उद्देश्य तो शंकर के अद्वैत दर्शन का खण्डन करके सगुण कृष्ण भक्ति की स्थापना करना है। कृष्ण भक्ति साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि स्वामी बल्लभाचार्य तथा स्वामी हितहरिवंश के राधावल्लभी सम्प्रदायों से निर्मित हुई ‘पुष्टिमार्गीय’, प्रेमा रागानुगा तथा माधुर्य भाव की मधुरा भक्ति माना है। उस भक्ति की दार्शनिक मान्यताएँ तो भागवत पुराण में वर्णित पुष्टिमार्गी जीवन दर्शन है।

कृष्ण काव्य के वैशिष्ट्य और अवदान को इस रूप में प्रकट किया जा सकता है।

प्रेम—भाव का निरूपण: कृष्ण—भक्तों ने भक्ति का आधार एकमात्र प्रेम तत्त्व ही माना है। प्रेम की उच्चतम कोटि मधुरा भक्ति है। कृष्ण के प्रति प्रकट किया गया सच्चा प्रेम ही शृंगाररस का स्थायी भाव ‘रति’ है जो भक्तों की भावनानुसार ‘वात्सल्य’ ‘संख्य’ तथा ‘माधुर्य’ भाव में परिणत होता है। इसीलिए शृंगारी भाव ही प्रधान है।

ब्राह्माडम्बरों का विरोध: कृष्ण भक्ति में प्रेम का पंथ ही अनूठा रहा है। इसमें जप, तप, योग तथा वैदिक कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं। प्रेम को किसी ब्रह्माडम्बर की आवश्यकता नहीं, वह तो हृदय की अनुभूति कही जा सकती है।

वात्सल्य, शृंगार तथा शान्त रस की प्रधानता : सम्पूर्ण कृष्ण काव्य में प्रमुख रूप से वात्सल्य शृंगार तथा माधुर्यजन्य

शांत रस की अभिव्यक्ति मिलती है।

संगीत की ओर प्रवृत्ति : कृष्ण-भक्ति साहित्य में संगीत-माधुरी को महत्त्व प्रदान करने के लिए ही अधिकांश भक्ति पद राग-रागिनियों में निबद्ध है। सूरदास, नन्ददास तथा मीरा के पद संगीतमय साहित्य के प्रमाण हैं।

प्रकृति चित्रण: कृष्ण भक्ति साहित्य भावात्मक काव्य है। ब्रह्म प्रकृति का चित्रण इसमें या तो भाव की पृष्ठभूमि में हुआ है या उद्दीपन भाव के लिए। डॉ. ब्रजेश्वर ने लिखा है, "दृश्यमान जगत का कोई भी सौन्दर्य उनकी आँखों से छूट नहीं सका। पृथ्वी, आकाश, जलाशय, वन-प्रान्त तथा कुंज-भवन की सम्पूर्ण शोभा इन कवियों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में निःशेष कर दी है।"

काव्य रूप: कृष्ण काव्य का सृजन प्रायः मुक्तक शैली में हुआ है। कृष्ण काव्य में एक प्रबन्ध काव्य भी मिलता है, जिसकी रचना शुद्ध ब्रजभाषा में हुई। ग्रंथ का नाम है, 'ब्रज विलास' नन्ददास के भँवरगीत, रास पंचाध्यायी आदि में कथात्मकता की मनोवृत्ति देखी जा सकती है।

3.6 सारांश

भक्तिकाल हिंदी साहित्य के इतिहास का ऐसा स्वर्ण युग है, जिसमें बहुत से दर्शनों, विचार, मतवादों और सिद्धांतों की उपस्थिति तो है ही, उनका अद्भुत समन्वय भी यत्र-तत्र उपलब्ध है। ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग की समन्वित मंदाकिनी जिस युग में प्रवाहित हो रही थी, उस युग की दार्शनिक पृष्ठभूमि ही इस सुन्दर समन्वय का कारण बन रही थी। भक्ति काल की निर्गुण काव्यधारा के अंतर्गत जहां ईश्वर के निर्गुण, निराकार रूप की इसने की गई, वहीं सगुण काव्यधारा में ईश्वर के साकार रूप की इसने की गई। इस प्रकार, इस इकाई को पढ़ने से पाठक भक्ति के अर्थ और स्वरूप का महत्त्व समझ गए होंगे। साथ ही भक्तिकालीन ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक प्रवृत्तियों के परिपेक्ष्य में इस काल के काव्य में वर्णित सगुण-निर्गुण, योग, दार्शनिकता, आध्यात्मिकता का समन्वय देखते ही बनता है। भक्तिकाल का केवल साहित्यिकता महत्त्व ही नहीं वरन धार्मिक एवं सामाजिक महत्त्व भी है।

3.7 मुख्य शब्दावली

रहस्यवाद	—	परमसत्ता की भावात्मक अनुभूति
मारफत	—	साधक की वह स्थिति जिसमें वह कठिन उपवास और मौन साधना से परमात्मा के निकट पहुँच जाता है।
प्रतिबिंबवाद	—	ब्रह्म बिंब और जगत प्रतिबिंब का भाव
तरीकत	—	आत्मा-शुद्धि

3.8 अभ्यास हेतु प्रश्न

1. भक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
2. भक्तिकाल की विविध परिस्थितियों का परिचय दीजिए।
3. भक्तिकाल को स्वर्णयुग क्यों कहा जाता है? विवेचना कीजिए।
4. भक्तिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।
5. भक्तिकाल की शाखाओं का परिचय दीजिए।

3.9 आप ये भी पढ़ सकते हैं

1. आचार्य शुक्ल का हिंदी साहित्य का इतिहास 1929 ई.
2. पं. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का हिंदी साहित्य का इतिहास (1931 ई.)
3. श्री सूर्यकान्त शास्त्री का 'हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास (1932 ई.)
4. डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी का हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (1932 ई.)
5. पं. अयोध्यासिंह उपाध्याय का हिंदी भाषा और उसके साहित्य का विकास (1934 ई.)
6. डॉ. बच्चन सिंह द्वारा रचित 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास'
7. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित 'हिंदी साहित्य'
8. डॉ. लक्ष्मी सागर वाष्णीय द्वारा रचित 'हिंदी साहित्य का इतिहास'
9. डॉ. रामकुमार वर्मा हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (1936ई.)
10. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने साहित्येतिहास के तीन महत्वपूर्ण ग्रन्थों है
 1. 'हिंदी साहित्य की भूमिका' संस्करण 1940 ई.,
 2. 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' 1952 ई.,
 3. 'हिंदी साहित्य – उद्भव और विकास', 1955 ई.

इकाई –4 हिंदी साहित्य का रीतिकाल

- 4.0 परिचय
 - 4.1 इकाई का उद्देश्य –
 - 4.2 हिंदी साहित्य का रीतिकाल नामकरण
 - 4.3 रीतिकाल परिवेश : ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक
 - 4.4 रीतिकालीन कवियों का आचार्यत्व
 - 4.5 रीतिकालीन काव्य धाराएँ
 - 4.6 रीतिकालीन काव्य की विशेषताएँ
 - 4.7 सारांश
 - 4.8 मुख्य शब्दावली
 - 4.9 अभ्यास हेतु प्रश्न
 - 4.10 आप ये भी पढ़ सकते हैं
-

4.0 परिचय –

पिछली इकाई में आपने भक्तिकाल के बारे में पढ़ा। इस इकाई में रीतिकाल का अध्ययन करेंगे। हिंदी साहित्य से स्वर्णयुग 'भक्तिकाल' में जो भक्ति की धारा बही, यह काल उससे बिल्कुल अलग विशेषताओं को समेटे हुए था। रीतिकाल को उत्तर मध्यकाल के नाम से भी जाना जाता है। रीतिकाल हिंदी साहित्य के बाद का काल है, इस काल में साहित्य को एक नई दिशा मिली। उत्तर मध्यकाल कहलाने वाली इस काव्यधारा की अपनी कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियाँ रहीं, जिस कारण इसे 'रीतिकाल' की संज्ञा भी दी जाती है। अतः अब हम रीतिकालीन साहित्य को प्रभावित करने या उसकी प्रेरणा बनने वाली ऐतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का विश्लेषण करेंगे। साथ ही रीतिकाल का अर्थ स्वरूप, नामकरण एवं काल सीमा की जानकारी प्राप्त करेंगे।

4.1 इकाई का उद्देश्य –

1. रीतिकाल का अभिप्राय एवं स्वरूप समझ सकेंगे;
2. रीतिकाल के नामकरण की समस्या पर प्रकाश डाल सकेंगे;
3. रीतिकाल परिस्थितियों का अध्ययन कर सकेंगे;
4. रीतिकाल साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाल सकेंगे।

4.2 हिंदी साहित्य का रीतिकाल नामकरण

रीतिकाल के नामकरण को लेकर भी विद्वानों में मतभेद रहा है। हिंदी साहित्य का सर्वप्रथम काल-विभाजन करने वालों में, जार्ज ग्रियर्सन का नाम आता है। जिन्होंने इसे रीतिकाव्य नाम दिया। आगे चलकर मिश्र बन्धुओं ने इसे दो

भागों में विभाजित करते हुए पूर्वालंकृत काल तथा उत्तरालंकृत काल की संज्ञा दी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे आरम्भ में तो उत्तर मध्यकाल तथा रीतिकाल नाम दिया परन्तु इसे शृंगारकाल कहने की भी छूट देते हुए लिखा, "इस काल को रस के विचार से कोई शृंगारकाल कहे तो कह सकता है।" इस प्रकार आचार्य शुक्ल तक इस काल के कई नाम सामने आ गए। जैसे रीतिकाल, पूर्व तथा उत्तर अलंकृतकाल, उत्तर मध्यकाल, रीतिकाल तथा शृंगार काल इत्यादि। अब इन्हीं नामों तथा अन्य लेखकों द्वारा सुझाये गये नामों की समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है।

किसी भी भाषा के साहित्यिक इतिहास का काल-विभाजन तथा नामकरण करते हुए रचनाओं की बहुलता, साहित्यकारों में प्रमुख तत्कालीन कर्ता, विषयवस्तु तथा प्रवृत्ति-विशेष को ही आधार बनाया जा सकता है। किसी भी साहित्यिक काल का विभाजन तत्कालीन साहित्य की मुख्य प्रवृत्ति के आधार पर किया जाना ही अधिक तर्कसंगत माना जाता है। जार्ज ग्रियर्सन ने तुलसीदास के बाद जिसे रीतिकाल कहा है वह इसलिए माना जाता है कि रीतिकाल में जो रचनाएँ रची गईं उनमें एक विशेष प्रकार की काव्य-शैली दिखाई देती है। इसी शैली को रीतिकाल कहा गया। मिश्रबन्धुओं ने इस काल को अलंकृत काल इसीलिए कहा, क्योंकि इस काल की रचनाओं में काव्य के अलंकरण पर ही अधिक ध्यान केन्द्रित रहा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सुझाये गये नामों के विषय में कह सकते हैं कि उन्होंने मनोविज्ञान तथा तत्कालीन साहित्य की विशेष अभिरूचि तथा प्रवृत्ति विशेष को ध्यान में रखते हुए तीन नाम सुझाए। आचार्य शुक्ल ने तत्कालीन काव्य पद्धति विशेष अर्थात् रीति-विशेष के आधार पर इसे रीतिकाल कहना ही उचित समझा है।

मिश्रबन्धुओं ने अपने 'मिश्रबन्धु विनोद' नामक हिंदी साहित्य के इतिहास में इस काल को 'अलंकृत काल' नाम दिया था। उनका कहने का आशय यह था कि इस युग में कविता को अलंकृत काल नाम दिया जाना चाहिए। मिश्रबन्धुओं का तर्क बहुत सशक्त नहीं माना गया। उन्होंने इस युग की कविताओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि यह कविता अलंकृत है यानी अलंकारों के आग्रह से युक्त है। पर क्या केवल अलंकारों की ही निहिति इस काल की कविता में है। रसानुभूति की दृष्टि से इस काल की कविता का मूल्य किसी से कम नहीं है। ध्वनि और वक्रता भी उसमें पर्याप्त मात्रा में मिलती है। इसलिए केवल अलंकारों का आग्रह इंगित करना, इतना अधिक समीचीन नहीं है जिसके कारण कि इस युग का नामकरण ही उस आधार पर कर दिया जाए। दूसरी बात यह है कि इस काल से पहले या बाद में भी जहाँ अधिक अलंकृत कविताएँ सामने आती हैं तो उनका नामकरण भी क्या अलंकारों के आधार पर करने की सोच सकते हैं। इसलिए मिश्र-बन्धुओं ने जिस प्रवृत्ति का अभियान करके इस काल को 'अलंकृत काल' कहा है वह एकांगी और अपूर्ण लगती है।

1. डॉ. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने रीतिकाल का नाम 'कला-काल' माना है। 'कला-काल' से तात्पर्य उस काल से है, जिसमें हिंदी क्षेत्र में काव्य को कलापूर्ण किया गया, अर्थात्, उसमें काव्य के चमत्कृत एवं चातुर्यपूर्ण गुणों को ध्यान में रखकर रचनाएँ की गईं और साथ ही कला के नियम से संबंध रखने वाले रीति या लक्षण ग्रन्थों की रचना हुई। इस नाम के देने में रीतिकाल काव्य के बाह्य पक्ष पर तो प्रकाश पड़ता है पर उसकी एक बड़ी विशेषता शृंगारिकता की उपेक्षा हो जाती है। यह नाम प्रायः उसी तरह का है जैसे ग्रीष्म या मिश्रबन्धुओं ने दिया है। हिंदी साहित्य में इसे भी स्वीकार नहीं किया गया।

2. डॉ. भगीरथ मिश्र ने हिंदी साहित्य के इस युग का नाम 'रीति शृंगार' काल रखा है। वे मानते हैं कि शृंगार की प्रवृत्ति रीतिकाल की एक विशेषता है जिसे सभी स्वीकार करते हैं पर उसके साथ ही उस युग के साहित्य की चेतना है 'पद्धति परकता' एक पैटर्न के काव्य की रचना करने की पद्धति इस काल में अधिक दिखलाई देती है। डॉ. भगीरथ मिश्र के इस नाम में यह आपत्ति है कि पद्धति परकता से अलग भी कुछ कवि रीतिकाल में थे। घनानंद, बोधा, आलम, ठाकुर आदि की कविता को उस रीतिकाल पद्धति से अलग कर पाते हैं। बिहारी और घनानंद पद्धति एक नहीं है। अतः रीति शृंगार नामकरण की बात भी विद्वानों को उसी प्रकार स्वीकार्य नहीं है जैसे 'कला-साहित्य' की।

3. पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : इस काल को पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'शृंगार काल' के नाम से अभिहित किया है उनकी मान्यता यह है कि इस युग की एक बड़ी प्रवृत्ति शृंगार की थी। इसलिए इस युग को 'शृंगार काल' के नाम से पुकारा जाना चाहिए। 'शृंगार काल' की मीमांसा करने पर भी यही सिद्ध होता है कि यह नाम भी उपयुक्त नहीं है। पंडित मिश्र ने यह देखकर इस काल का नाम शृंगार काल दिया है क्योंकि इस काल की कविता में शृंगार की प्रवृत्ति बहुत अधिक है। बात यह है कि शृंगार वर्णन की प्रवृत्ति इस कविता में धन की प्राप्ति के लिए आई। राजाओं की वासना को तृप्त करने के लिए शृंगार-वर्णन हुआ है। कवियों द्वारा अपने मन से वह यह निकला अन्यथा भिखारी यह क्यों कहते—

"आग के कवि रीझिहैं तो कविताई न तो,

राधिका कन्हाई सुमिरन कौ बहानौ है।"

इस काल में कुछ ऐसे भी कवि हुए हैं जिन्होंने शृंगार को प्रमुखता नहीं दी। कुछ कवि तो ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने लक्षण-ग्रन्थों की रचना करके भी शृंगार को कोई स्थान नहीं दिया। इसलिए इस काल की शृंगार शृंगारिकता के मूल में कवि की अपनी रुचि न होकर आश्रयदाता की रुचि थी। इस काल में शृंगार के अतिरिक्त नीति प्रकृति-चित्रण आदि की कविताओं की भी कमी नहीं है। सभी प्रकार की कविताओं की प्रवृत्ति शृंगार की कैसे मानी जा सकती हैं। इसीलिए इस काल को 'शृंगार काल' नाम जो दिया गया, वह इतना उपयुक्त नहीं लगता। इसलिए इस काल का नाम 'रीतिकाल' देना अधिक समीचीन है। रीति की प्रवृत्ति, के अन्तर्गत लक्षण ग्रन्थ भी आ जाएँगे शृंगार की रचनाएं भी और शृंगारेत्तर रचनाएँ भी, क्योंकि लक्षण बताने और उसके अनुसार कविता करने की रीति सभी प्रकार की कविताओं में देखने में आती है। अतः इस काल का नाम 'रीतिकाल' सबसे अधिक उपयुक्त है।

आज हिन्दी साहित्य के लगभग सभी विद्वान, आलोचक तथा साहित्य के इतिहास-लेखक यह स्वीकार करते हैं कि इस काल का नाम 'रीतिकाल' ही उचित है क्योंकि उसमें तत्कालीन कवियों की काव्य-रचना पद्धति एवं काव्य-शिक्षा दोनों ही बातें आ जाती हैं। रीतिकाल का नामकरण करने के पश्चात एक और बात भी विद्वानों में मतभेद का विषय बनी हुई है कि रीतिकाल का संस्थापक आचार्य किसे माना जाये? इस विषय में विद्वानों के दो वर्ग हैं। एक वर्ग तो आचार्य केशव को रीतिकाल का संस्थापक मानता है और दूसरा वर्ग आचार्य केशव के बाद होने वाले आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी को ही रीतिकाल का संस्थापक तथा प्रवर्तक मानता है। इस मतभेद को उत्पन्न करने वालों में सर्वप्रथम तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ही हैं, क्योंकि उनके मतानुसार तो केशवदास की गणना भक्तिकालीन कवियों में की जानी चाहिए क्योंकि कालक्रम के अनुसार केशवदास संवत् 1612 से 1674 विक्रम तक जीवित रहे। इसके अतिरिक्त आचार्य शुक्ल यह भी तर्क देते हैं कि आचार्य केशव ने अपने लक्षण ग्रंथों में संस्कृत के अलंकारवादियों भामह, दण्डी, उद्भट, रूय्यक आदि की पद्धति को अपनाया। शुक्ल ने यह भी कहा है कि केशव ने जिन अलंकारवादी आचार्यों के संस्कृत समीक्षा-शास्त्र से अलंकार-संबंधी सामग्री ग्रहण की उसमें अलंकार तथा अलंकार्य का भेद स्पष्ट नहीं था। उन्होंने तो रस को अलंकार ही मान लिया था। केशव के विपरीत चिन्तामणि त्रिपाठी ने तथा उनके पीछे चलने वाले रीति-कवियों ने अलंकारों का वर्णन 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के आधार पर किया।

उपर्युक्त कथनों से तथा ऐसे ही कुछ अन्य वक्तव्यों से यह मतभेद बढ़ता ही गया, परन्तु निष्पक्ष होकर विवेचना करने पर जो निर्णय लिया जाये वह उचित ही कहा जायेगा। यह ठीक है कि आचार्य केशव को कालक्रम के अनुसार भक्तिकाल में लिया जा सकता है परन्तु केवल कालक्रम को ही एकमात्र आधार नहीं माना जा सकता। जहाँ तक केशव की रीति-पद्धति का प्रश्न है वह चाहे दण्डी तथा उद्भट से प्रभावित हो अथवा पोषित हो अथवा अन्य किसी से, है तो रीति पद्धति ही। आचार्य चिन्तामणि द्वारा अपनायी गई काव्य रचना तथा साहित्य साधना की पद्धति भी रीति पद्धति ही है। जिसे उन्होंने रसवादियों, रीतिवादियों, ध्वनिवादियों आदि के अतिरिक्त चन्द्रालोक तथा

कुवलयानन्द आदि अलंकारवादियों से प्रेरणा ग्रहण करके अपनाया है। निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि हिंदी रीतिकाल के संस्थापक आचार्य केशवदास ही हैं। जिन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्र को लोकभाषा यानि ब्रजमिश्रित अवधी में प्रस्तुत करके आगे आने वाले कवि-आचार्यों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। अतः काल का नाम 'रीतिकाल' सबसे अधिक उपयुक्त है।

4.3 रीतिकाल परिवेश : ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक

ऐतिहासिक परिवेश हिंदी साहित्य के इतिहास में संवत् 1700 से 1900 विक्रम तक का समय रीतिकाल के नाम से अभिहित किया गया है। यह वह समय था जब भारत में मुगलों का राज्य था। मुगलों के वैभव-विलास और विजय-वृत्तान्त के अनेक उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि उस समय बादशाहों का उत्कर्ष चरम अवस्था पर पहुँचा हुआ था। शासक समर्थ थे और जैसे ही युद्ध से अवकाश मिलता था, विलासिता में डूबे रहते थे। इसका परिणाम यह भी हो रहा था कि जिस शासन् को अकबर ने अपनी नीति से दृढ़ बनाया और जहाँगीर ने भी अच्छी तरह संभाला वह शाहजहाँ के समय पूर्ण विस्तृत और समृद्ध था। शाहजहाँ के समय से ही रीतिकाल का आरंभ होता है। विद्वानों ने माना है कि शाहजहाँ के समय से मुगल-काल उत्कर्ष के बिन्दु से नीचे गिरने लगा था। इस संबंध में डॉ. नगेन्द्र का मत है कि—“जिस प्रकार साहित्य के इतिहास में भक्ति काव्य के चरम वैभव के बाद संवत् 1700 विक्रम के आस-पास से ही कविता क्षयग्रस्त होने लगी थी, ठीक उसी प्रकार राजनैतिक इतिहास में मुगल-साम्राज्य भी अपने सम्पूर्ण यौवन को प्राप्त करने के उपरान्त ह्रासोन्मुख हो चला था।”

मध्ययुग में समाज सामन्तवादी पद्धति का था। उच्च वर्ग के राजा और सामन्तों का जीवन, वैभव से पूर्ण था। दिल्ली के अनुकरण पर छोटे-छोटे राजाओं में भी वैभव-विलास की प्रवृत्ति थी। उपवन और रमणीय विहार-स्थल उस समय के समाज के लिए वांछनीय थे। पुष्प, इत्र, गंध, फव्वारे और अन्य विलास सामग्री राजा और सामन्तों को तृप्ति देती थीं। इस तरह के समाज का कवियों की रचनाओं पर भी असर पड़ा। इस संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है—“शृंगार-वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया। इसमें जनता की रुचि नहीं, आश्रयदाताओं की रुचि थी, जिनके लिए वीरता और कर्मण्यता का जीवन बहुत कम रह गया था।” रीतिकाल में निम्न वर्ग का जीवन सदा की भाँति उपेक्षित था। उनकी आर्थिक स्थिति भी ठीक नहीं थी। कवि और कलाकारों का वर्ग राजा लोगों के यहाँ रहता था जो वैसे ही उच्च आशाएँ-आकांक्षाएँ रखता था। तत्कालीन समय में मुगलों की उत्तराधिकार की नियम हीनता ने अशांति और संघर्ष का वातावरण बना दिया। देश के अन्य भागों में भी इसी तरह के विद्रोह और संघर्ष के तेवर बढ़ रहे थे। अकबर के राजपूत सहयोगी नीति को औरंगजेब ने ध्वस्त करके जयपुर पर अधिकार किया तो मारवाह और मेवात सभी मुगलों के विरुद्ध हुए और संघर्ष करते रहे। शाहजहाँ के समय में स्थापत्य-कला की विशेष उन्नति हुई, दिल्ली का लाल किला और जामा मस्जिद, मोती मस्जिद, दीवाने आम, ताजमहल आदि उसकी वास्तु कलाप्रियता के प्रमाण हैं। वह साहित्य प्रेमी भी था, तथा फारसी, संस्कृत और हिंदी के कवियों को संरक्षण प्रदान करता था। पंडितराज जगन्नाथ, आचार्य सरस्वती आदि कवि उसके दरबार से सम्बद्ध थे। प्रमुख रीतिकालीन कवि चिन्तामणि उसके कृपा पात्र थे। इसके समय में ज्योतिष, अंकगणित, बीजगणित आदि में पर्याप्त प्रगति हुई। औरंगजेब ने लगभग अर्द्ध शताब्दी तक शासन् किया। उसका साम्राज्य धार्मिक कट्टरता, अत्याचार एवं अन्याय का शासन् रहा। उसकी संकीर्णता के फलस्वरूप जाट, सिक्ख, राजपूत, मराठा आदि सभी उसके विरोधी हो गये। हिन्दू मन्दिरों और पाठशालाओं को तोड़ने की आज्ञा दे दी गयी। काव्यकला से वह घृणा करता था। उसने कलाविदों को दरबार से निकाल दिया अतः उनको ओरछा, कोटा, बूँदी, जोधपुर आदि राज्यों में शरण लेनी पड़ी। इस प्रकार औरंगजेब का अधिकांश समय विरोधियों का दमन करने में बीता। औरंगजेब के बाद थोड़े-थोड़े समय के लिए अनेक मुगल शासक हुए, लेकिन उनका समय अकर्मण्यता, अयोग्यता, विलासिता आदि का इतिहास है।

सामाजिक परिवेश

रीतिकालीन काव्य की सर्जना भी सामाजिक परिवेश सम्राट के आंतक और जनसाधारण के दैन्य की परिस्थिति है। राजा बादशाह का प्रभुत्व लिए शासक वर्ग था जो, शासन को चलाने वाले थे, दूसरे गरीब किसान, व्यापारी, दुकानदार थे। इतिहासकारों ने इन्हें क्रमशः योद्धा वर्ग और उत्पादक वर्ग कहा है। उनकी स्थिति को स्पष्ट करते हुए आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं – इस शताब्दी तक आते-आते हिंदुओं की जाति-पाति की व्यवस्था और भी कसी जाकर सिमट गयी थी। अब वह पुरानी वर्ण-व्यवस्था के आदर्श पर न चलकर पेशेवर जातियों के रूप में ढलने लगी थी। पेशे वंशानुक्रम में चलने लगे, प्रत्येक पेशे के लोग अलग-अलग जातियों के रूप में संगठित होते गए। “डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने कहा है—“भोक्ता वर्ग सम्राट के परिवार और दरबारों से लेकर उनके नौकर चाकर और दासों तक फैला हुआ था। यह वर्ग राज्य की शक्ति था अतएव उत्पादक वर्ग पर इसका पूर्ण प्रभुत्व था। सामाजिक स्थिति भी उनकी श्रेष्ठ थी। इन दोनों के बीच बहुत बड़ा अन्तर था—शासक और शाषित-शोषक और शोषित का।” इस समय का एक समाज मुगलों का परिवार और उनके दरबारी सामन्तों का था। बहुमूल्य आभूषण, हीरे जवाहरात, रत्न, माणिक, स्वर्ण रजत आदि के बेहद प्रयोग से ऐश्वर्य का पता चलता था। स्त्रियों के आभूषण और इत्र, फुलेल, शृंगार प्रसाधनों का जिस दरबार में प्रसार था उसने उस समय के कवियों को काव्य में तरह-तरह की साज सज्जा को चित्रित करने की एक दृष्टि अच्छी प्रकार दे रखी थी। शृंगार और वैभव विलास सुरा सुराही के ऐसे चित्रण रीतिकाव्य में इसी से बड़े स्वाभाविक रूप में मिलते हैं। इस तरह का एक बड़ा प्रसिद्ध कवि पद्माकर द्वारा रचित इस प्रकार रहा है—

“शिशिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्है ,

जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।

तान तुक ताला है विनोद के रसाला हैं,

सुबाला है दुशाला है बिशाला चित्रशाला हैं।।”

वैभव विलास के इस समाज में क्रीड़ा और मनोविनोद के तत्कालीन प्रचलित साधनों की कमी नहीं थी। शतरंज चौसर का खेल, तोता मैना कबूतर को पालना, शिकार और जानवरों की लड़ाई के शौकीन ये लोग श्रमिक दलित वर्ग के दुःख अभाव से अपरिचित होकर जीवन जी रहे थे। स्त्रियों की सामाजिक स्थिति दयनीय थी। वे पुरुष की सम्पत्ति अथवा भोग्या मात्र थीं। किसी कन्या का अपहरण अभिजात वर्ग के लोगों के लिए साधारण बात थी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं “इससे इतना स्पष्ट है कि नारी की विशेषता इसकी दृष्टि में कथ्य नहीं है, वह केवल पुरुष के आकर्षण का केंद्र भर हैं, उसका सामाजिक अस्तित्व मानों कुछ है ही नहीं” कदाचित् इसीलिए अल्पायु में लड़कियों का विवाह अधिक प्रचलित हो गया था। बेगमों और रक्षिताओं की अगिनत सख्या के होते हुए भी लोग वेश्याओं के यहाँ पड़े रहते थे— उनके इशारों पर लोगों के भाग्य का निर्णय तक हो जाया करता था। वस्तुतः भारतीय इतिहास में यह घोर पतन का युग था। रीतिकालीन कवियों द्वारा नारी के चित्रण से उसकी सामाजिक परिस्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः इस काल का कवि अपने आश्रयदाताओं के भोगपरक जीवन को देखकर और उस प्रकार के जीवन को यश और सम्मान का कारण समझकर उसे कल्पना और वाग्वैदग्ध्य के बल पर अपनी चरम सीमा तक घसीट ले जाने के लिए मजबूर था। इसके अतिरिक्त समाज का एक और भी वर्ग था वह था विद्वान और कवि कलाकारों का। ये प्रायः छोटे वर्ग से आये हुए होते थे परन्तु बादशाह और राजा-सामन्तों के आश्रय में रहते थे। इनकी कला का पुरस्कार बड़े लोग ही दे सकते थे। इसलिए ये उनके आश्रय में रहते थे और उसी तरह का तेवर रखते थे। कई कवि तो जैसे केशव, बिहारी, भूषण तो राजाओं की तरह ही रहते थे। मुगल साम्राज्य के पतन की परिस्थिति का इन कवि-कलाकारों पर भी प्रभाव पड़ा। दिल्ली के बादशाह औरंगजेब के बाद

दिल्ली में स्थायी शासन न होने से ये कलावन्त छोटे-छोटे राजा, नबाव, सामन्तों और रईसों के आश्रय में रहने लगे। रीतिकाल के कवियों के समाज का यह जीवित सत्य है।

सांस्कृतिक परिवेश

तत्कालीन राजनीतिक सामाजिक अवस्था के समान इस युग में देश की धार्मिक-सांस्कृतिक स्थिति भी अत्यन्त शोचनीय थी। अकबर, जहाँगीर, और शाहजहाँ की उदारतावादी नीति तथा संतों और सूफियों के उपदेशों के कारण हिन्दू और इस्लाम संस्कृतियों के निकट आने का जो उपक्रम हुआ था, नामवर सिंह लिखते हैं कि "एक ओर जो सबसे ऐतिहासिक बात हुई, वह यह है इस्लाम के साथ भारत का मेल-जोल बढ़ा नतीजा यह हुआ कि इस मेले जोल के साथ फारसी और संस्कृत का भी मेल हुआ जिससे कि उर्दू भाषा विकसित हुई फारसी और संस्कृत में संवाद था। इसके सबसे बड़े प्रमाण रीतिकाल के कवि हैं "वही दुसरी और औरंगजेब की कट्टरता के कारण हिन्दू और इस्लाम संस्कृतियों के निकट आने का जो उपक्रम बना था वह एक प्रकार से समाप्त होता चला गया। भक्तिकाल में काव्य की जो चार धाराएँ प्रारम्भ हुई थीं वे किसी न किसी रूप में इस युग में भी वर्तमान थीं किन्तु उनकी आध्यात्मिक गरिमा संत और भक्त कवियों की अपने उपास्य के प्रति अनन्य निष्ठा, स्वान्तः सुखाय काव्य-रचना का संकल्प, राजकीय वैभव की उपेक्षा और लोकमंगल की भावना धीरे-धीरे समाप्त हो रही थी। संत कवियों की बाह्याचार विरोधमूलक वृत्ति और सूफियों के प्रेम की पीर का कुछ प्रभाव समाज पर अवश्य पड़ा था। इस आलोच्यकालीन युग में भी पुरानी परम्परा के सूफी तथा संत विद्यमान थे, पर किसी में भी कबीर, नानक अथवा जायसी जैसा व्यक्तित्व और प्रतिभा नहीं थी, जो जन-जीवन को प्रभावित कर सकती। ये लोग पूर्ववृत्तियों की वाणी के मात्र प्रचारक थे। इस युग में रामकाव्य-धारा की पूर्व परम्परा एक प्रकार से अवरुद्ध सी हो गयी थी और उसमें जो रसिक सम्प्रदाय पनप रही थी, उसमें घोर शृंगारिकता आ गयी थी। सूरदास एवं अष्टछाप के अन्य कवियों ने राधाकृष्ण के प्रेम का खुलकर वर्णन किया था। यद्यपि उसके मूल में आध्यात्मिक चेतना प्रखर रूप से विद्यमान थी, किन्तु रीतिकाल तक आते-आते भक्ति और अध्यात्म का आवरण क्षीण होता गया और लौकिक शृंगार प्रबल होता गया। रीतिकाल के लगभग सभी कवियों ने प्रेम-वर्णन में सम्मान के साथ राधाकृष्ण का नाम लिया किन्तु शृंगार का अतिरंजनात्मक वर्णन किया।

रीतिकालीन सांस्कृतिक परिस्थितियों के बारे में डॉ.नगेन्द्र ने उचित ही लिखा है—"इस प्रकार हिंदू और मुसलमान दोनों ही धर्म के मूलभूत सिद्धांतों से दूर पड़ गए थे केवल बाह्याचरण ही धर्म-पालन रह गया था। ऐसी दशा में धर्म के साथ नैतिकता का जो सम्बन्ध जुड़ा हुआ था, उससे सम्पन्न वर्ग एकदम दूर हो गया था और विलासिता के लिए खुली छुट मिल गई थी। इधर, विलास के साधनों से हीन वर्ग के बीच स्थिति यह हो चली थी कि कर्म और आचार के स्थान पर अंधविश्वास ने उसके भीतर इतना घर कर लिया था कि हिंदू मन्दिरों में तथा मुसलमान पीरों के तकियों जाकर मनोरथ सिद्ध करने लगे थे।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस युग में देश की सांस्कृतिक अवस्था भी अत्यन्त शोचनीय थी। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ की उदारतावादी नीति तथा संतों और सूफियों के उपदेशों के परिणामस्वरूप हिन्दू और इस्लाम एक-दूसरे के विरुद्ध होने लगे थे। वैष्णव सम्प्रदायों के मठाधीश राजाओं और सामन्तों को गुरुदीक्षा देने में गौरव का अनुभव करने लगे थे मन्दिरों में अब ऐश्वर्य और विलास की लीला होने लगी थी। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई थी कि हिन्दू अपने आराध्य राम-कृष्ण का अतिशय शृंगार ही नहीं करने लगे थे, उनकी लीलाओं में अपने विलासी जीवन की संगति खोजने लगे थे। धर्म का नैतिकता के साथ संबंध विच्छिन्न हो गया। जनता के अन्धविश्वासों का लाभ पुजारी और मुल्ला उठाते थे और ये धर्म स्थान भ्रष्टाचार तथा पापाचार के केन्द्र बन गए थे।

साहित्यिक परिवेश

साहित्य और कला की दृष्टि से यह युग पर्याप्त समृद्ध कहा जा सकता है। इस काल के कवि में संस्कृत के सुप्रसिद्ध आचार्य जगन्नाथ, हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि चिन्तामणि, सुंदरदास, बिहारी कृपाराम, देव, आचार्य भिरवारी दास, रसलीन व तोष आदि कवि थे तथापि उन्हें अपने आश्रयदाता मुगल-सम्राटों या देशी नबावों से इतना सम्मान मिलता था कि समाज के प्रतिष्ठित लोगों में उनकी गिनती की जाती थी। मुगल दरबार की भाषा फारसी थी। उस समय फारसी शैली मजनु आदि की रोमानी कहानियाँ भी निबद्ध हो रही थीं। जिनका प्रभाव रीतिकालीन हिंदी साहित्य पर स्पष्ट देखा जा सकता है। शाहजहाँ आत्म-प्रशंसा सुनने का अत्यन्त प्रेमी था। ब्रजभाषा जन-जीवन के निकट होते हुए भी फारसी के प्रभाव से न बच सकी। विलासी आश्रयदाताओं की वासना को गुदगुदाने के लिए लिखी हुई। शृंगारिक रचनाओं पर भी इस शैली का ऐसा ही प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है। परन्तु संयोग से ये कवि चमत्कार के उपकरणों के लिए फारसी की ओर उन्मुख न होकर संस्कृत की ओर उन्मुख हुए। इतना ही नहीं, इन लोगों ने इन उपकरणों का निरूपण भी इतने मनोयोगपूर्वक किया कि आज पद्धति अथवा रीति के कारण ही इस युग को रीतिकाल की संज्ञा देना अधिक उपयुक्त समझा जाता है। इधर जन समुदाय के ऐसे कवि भी विद्यमान थे, जो स्वतंत्र रूप से काव्य की रचना कर रहे थे।

प्रदर्शन-प्रधान रीतिकालीन चित्रकला नायक-नायिकाओं की बंधी-बंधाई प्रतिकृतियाँ तैयार होती रहीं। उस समय की चित्रकला की नायक-नायिकाओं के रुढ़िबद्ध चित्र, पौराणिक कथाओं पर आधारित चित्र तथा राग-रागिनियों के प्रतीक चित्रों का बाहुल्य है। कृष्ण और राधा के तो उस युग में अश्लील चित्र बने ही, साथ ही साथ शिव-पार्वती को भी उसी कोटि में लाकर खड़ा कर दिया। रीतिकालीन शृंगारी कविता की मूल प्रेरणाओं में जहाँ उक्त परिस्थितियों ने संस्कृत की शृंगारी मुक्तक काव्य परम्परा व संस्कृत के लक्षण ग्रंथों के अनुकरण की प्रवृत्ति को जन्म दिया।

काव्य और चित्रकला के अतिरिक्त इस युग में स्थापत्य-कला और संगीत कला का भी विशिष्ट स्थान रहा। मुगल सम्राट शाहजहाँ को यद्यपि संगीत का अच्छा ज्ञान था। तथापि उसकी रुचि स्थापत्य कला में अधिक रही। शाहजहाँ ने जितनी इमारते बनवायी, उन सबमें सूक्ष्म सौन्दर्य पर अधिक ध्यान दिया गया है। आगरा का 'ताज' और दिल्ली का 'दीवाने खास' इसके सशक्त उदाहरण हैं। इस काल में कवियों और कलाकारों को राजाश्रयों में यथोचित सम्मान प्राप्त होने के कारण साहित्य और कला की स्थिति कुल मिलाकर अच्छी रही। किन्तु अलंकारप्रिय विलासी आश्रयदाताओं की अभिरुचि से अत्यधिक प्रभावित रहने के कारण इनमें से किसी का भी क्षेत्र गुण की दृष्टि से विशद न हो सका।

हिंदी रीतिकाल को मानव-मूल्यों के मापदण्ड पर पतनोन्मुख ही कहा जायेगा क्योंकि प्राकृतिक प्रतिभा को कुंठित करके आरोपित मूल्यों को कोई भी प्रबुद्ध आलोचक उचित नहीं कह सकता। इसीलिए रीतिकालीन हिंदी साहित्य में जो शृंगार एवं अलंकरण की प्रवृत्ति देखी जाती है वह प्रदर्शन की भावना ही है। रीतिकालीन साहित्य की उपलब्धि मौलिक रचनाओं में नहीं देखी जा सकती, क्योंकि मौलिक रचनाएँ तो बहुत ही कम लिखी गईं।

4.4 रीतिकालीन कवियों का आचार्यत्व

“इसमें कोई संदेह नहीं कि काव्य रीति का सम्यक समादेश पहले आचार्य केशव ने ही किया। पर हिंदी में रीति ग्रंथों की अविरल और अखंडित परम्परा का प्रवाह केशव की 'कवि प्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पिछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदेश को लेकर नहीं।” हिंदी साहित्य का इतिहास – शुक्ल

रीति काव्य के लेखकों को दो वर्गों में रखा जा सकता है। जिन कवियों ने काव्यशास्त्र के सभी सम्प्रदायों का विवेचन किया, उन्हें 'सर्वागविवेचक' वर्ग में रखा जाता है, जिनमें केशवदास, कुलपति मिश्र, भिखारीदास के नाम

उल्लेखनीय हैं। दूसरे वर्ग 'विशिष्टांगविवेचक' में उन कवियों को रखा जाता है जिन्होंने एक-दो काव्यांगों का ही विवेचन किया, जिनमें मतिराम, देव पद्माकर आदि उल्लेखनीय हैं। इस धारा के कवियों में लक्षण ग्रंथ लिखने की परम्परा थी, अर्थात् पहले काव्यांग का लक्षण देकर बाद में उदाहरण देने की परम्परा, जैसे –

“जदपि सुजात सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।

भूषण बिन न बिराजई कविता, बनिता, मित्त।।” (केशव दास)

“जहाँ एक ही बात को उपमेयों उपमान।

तहां अनन्वय कहते हैं कवि मतिराम सुजान।।” (मतिराम)

इन रचनाकारों की कविता में प्रायः अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के भाव दिखते हैं। यही कारण है कि इनके वर्णन प्रायः शृंगार प्रधान हैं जिनमें अधिकांश विलास व भाग की प्रवृत्ति है जैसे

‘गुलगुलीगिल में गलीचा है, गुनीजन है,
चाँदनी है, चिक है, चरागन की माला है।
कहै पद्माकर ज्यों गिजा है सजी, सेज है,
सुराही है, सुरा है और प्याला है।”

कहीं-कहीं आश्रयदाता की वीरता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन भी दिखाई पड़ जाता है –

“उपक्कै तपक्कै धड़क्कै महा हैं,

प्रचै चिल्लिका सी भड़क्कै जहाँ हैं।” (पद्माकर)

“हिंदी में लक्षण ग्रन्थों की परिपाटी पर रचना करने वाले जो सैकड़ों कवि हुए हैं, वे आचार्य कोटि में नहीं आ सकते। वे वास्तव में कवि ही थे।” ऐसा कहकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन रीतिकालीन लक्षण ग्रन्थकारों के आचार्यत्व पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है। उनका मत है कि : आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन शक्ति एवं पर्यालोचन शक्ति की आवश्यकता होती है, उसका अभाव इन कवियों में था। साथ ही काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खण्डन-मण्डन एवं नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी हिन्दी रीतिग्रन्थों में नहीं हुआ।

इन रीति ग्रन्थकारों का प्रमुख उद्देश्य कविता करना था, शास्त्र विवेचन नहीं, अतः कवि लोग एक ही दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कवि कर्म में प्रवृत्त हो जाते थे।

शुक्ल जी लिखते हैं कि आचार्यों के काव्यांगों में सुव्यवस्थित एवं तर्कपूर्ण विवेचन के लिए सुविकसित गद्य का होना अनिवार्य है, किन्तु उस समय तक गद्य का विकास न हो सकने के कारण पद्य में ही विवेचन होता था जो अपर्याप्त था, परिणामतः विषय का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता था। साथ ही इन्होंने शब्द शक्तियों एवं दृश्य काव्य (नाटक) का विवेचन भी इन लक्षण ग्रन्थकारों ने बहुत कम किया है। भिखारी दास एवं प्रतापसाहि ने शब्दशक्तियों का जो थोड़ा-बहुत विवेचन किया है। उसमें भी विसंगति दिखाई पड़ती है।

इन्होंने केवल शृंगार रस के विवेचन में ही रुचि ली है, अन्य रसों की प्रायः उपेक्षा की गई है। इस प्रकार इनका रीति विवेचन एकांगी, एकपक्षीय, अधूरी है।

हिन्दी के इन रीति ग्रन्थकारों में मौलिक दृष्टि का अभाव है। संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुकरण पर इन्होंने अपने रीति ग्रन्थों का निर्माण किया। हिन्दी के अधिकतर अलंकार ग्रन्थ चन्द्रलोक (जयदेव), कुवलयाणन्द (अयनस

दीक्षित) के आधार पर निर्मित हुए। परिणामतः किसी नए सिद्धान्त या बाद की स्थापना हिन्दी के लक्षण ग्रन्थकार नहीं कर सके।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है – “इन्होंने शास्त्रीय मत को श्रेष्ठ और अपने मत को गौण मान लिया, इसलिए स्वाधीन चिन्तन के प्रति एक अवज्ञा का भाव आ गया।” आचार्यों में लक्षण काव्य के मर्मज्ञ तो थे पर विवेचन के लिए अपेक्षित कुशाग्र बुद्धि एवं चिन्तन-मनन का अभाव होने से वे किसी मौलिक उद्भावना का सूत्रपात न कर सके। साथ ही हिंदी के इन रीति ग्रन्थकारों का ज्ञान अपरिपक्व था। वे स्वयं अधूरे एवं अधकचरे ज्ञान के आधार पर काव्यांग निरूपण कर रहे थे, अतः विश्लेषण में अस्पष्टता आनी स्वाभाविक थी।

डॉ. नगेन्द्र का मत है – “हिंदी के रीति आचार्य निश्चय ही किसी नवीन सिद्धान्त का आविष्कार नहीं कर सके। किसी ऐसे व्यापक आधारभूत सिद्धान्त का जो काव्य चिन्तन को एक नई दिशा प्रदान करता, सम्पूर्ण रीतिकाल में अभाव है।” इस प्रकार हिन्दी रीतिग्रन्थों द्वारा काव्यशास्त्र का कोई महत्वपूर्ण विकास नहीं हो सका। इन लक्षण ग्रन्थकारों का मूल उद्देश्य काव्य रसिकों को काव्यशास्त्र से परिचित कराना तथा अपने पांडित्य का सिक्का जमाना था। उनके समक्ष काव्यशास्त्र की कोई गंभीर समस्या थी ही नहीं जिसका समाधान करने का वे प्रयास करते। साथ ही दरबारी परिवेश में तत्कालीन युग की रुचि गम्भीर विषयों की मीमांसा की ओर उतनी नहीं थी जितनी रसिकता की ओर थी, अतः इन कवियों ने काव्यांगों का सतही विवेचन किया है।

डॉ. नगेन्द्र आगे लिखते हैं कि भिखारीदास एवं केशव के अलंकार विवेचन एवं वर्गीकरण में अनेक त्रुटियां हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन्हीं त्रुटियों की ओर इंगित करते हुए कहा है – “संस्कृत में अलंकारशास्त्र को लेकर जैसी सूक्ष्म विवेचना हो रही थी, उसकी कुछ भी झलक इसमें नहीं पाई जाती। शास्त्रीय विवेचना तो बहुत कम कवियों को इष्ट थी, वे तो लक्षणों को कविता करने का बहाना भर समझते थे। वे इस बात की परवाह नहीं करते थे कि उनका निर्दिष्ट कोई अलंकार किसी दूसरे में अन्तर्भुक्त हो जाता है, या नहीं।” उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिंदी में लक्षण ग्रन्थों की रचना करने वाले ये सैकड़ों कवि शुद्ध रूप से आचार्य कोटि में नहीं आते, वे कवि ही हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन्हीं न्यूनताओं की ओर इंगित करते हुए कहा है – “संस्कृत में अलंकारशास्त्र को लेकर जैसी सूक्ष्म विवेचना हो रही थी, उसकी कुछ भी झलक इसमें नहीं पाई जाती। शास्त्रीय विवेचना तो बहुत कम कवियों को इष्ट थी, वे तो लक्षणों को कविता करने का बहाना भर समझते थे। वे इस बात की परवाह नहीं करते थे कि उनका निर्दिष्ट कोई अलंकार किसी दूसरे में अन्तर्भुक्त हो जाता है, या नहीं।”

भले ही हम इन्हें ‘आचार्य’ न मानें किन्तु हिन्दी में काव्यशास्त्र का द्वार खोलने का श्रेय इन रीति ग्रन्थकारों को अवश्य दिया जा सकता है।

डॉ. नगेन्द्र ने आचार्यों की तीन कोटियां मानी हैं –

क. उद्भावक आचार्य – जो किसी नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन करें।

ख. व्याख्याता आचार्य – जो स्थापित मत की व्याख्या करें।

ग. कवि शिक्षक आचार्य – जो काव्यशास्त्र को सरस रूप में अवतरित करें।

निश्चय ही ये रीति ग्रन्थकार प्रथम वर्ग के आचार्य नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने किसी नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया। वे द्वितीय वर्ग में आने वाले व्याख्याता आचार्य भी नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने स्थापित मत की व्याख्या करने का काम भी नहीं किया। वे वस्तुतः तृतीय वर्ग के कवि शिक्षक आचार्य माने जा सकते हैं, क्योंकि उन्होंने लक्षण ग्रन्थ लिखकर काव्यशास्त्र की परम्परा को सरस रूप में हिंदी में अवतरित करने का सराहनीय कार्य अवश्य किया है।

4.5 रीतिकालीन काव्य धाराएँ

रीतिकाल के सम्बन्ध में डॉ नगेन्द्र लिखते हैं कि "संवत् 1700 से 1900 तक भारत का राजनीतिक इतिहास चरम उत्कर्ष को प्राप्त मुगल साम्राज्य की अवनति के आरम्भ और फिर क्रमशः राजनीतिक इतिहास चरम उत्कर्ष को प्राप्त मुगल साम्राज्य की अवनति के आरम्भ और फिर क्रमशः उसके पूर्ण विनाश का इतिहास है। "संवत् 1700 में भारत के सिंहासन पर शाहजहाँ आसीन था। मुगल साम्राज्य वैभव अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच उसकी और भी श्रीवृद्धि एवं विकास कर लिया था।

रीतिकाल के कवियों को मुख्यतः तीन काव्य धारा में रखा गया :-

- 1 'रीतिबद्ध' काव्य धारा
- 2 'रीतिसिद्ध' काव्य धारा
- 3 'रीतिमुक्त काव्यधारा'

1. रीतिबद्ध

'रीतिबद्ध' काव्य धारा वह काव्य है जिसमें रीति अर्थात् परम्परागत काव्यशास्त्र को हिंदी में प्रत्यक्षतः रूपांतरित न करके रीति अथवा परम्परागत काव्यशास्त्र का पूर्ण अनुसरण व निर्वाह किया गया है। रीतिबद्ध काव्य लक्षणों और उदाहरणों से युक्त होता है। रीतिबद्ध उन कवियों तथा आचार्यों को माना गया है जिन्होंने संस्कृत-काव्यशास्त्र में प्रतिपादित काव्यांगों के आधार पर हिन्दी भाषा (लोकभाषा अवधीया ब्रज) में लक्षण ग्रन्थों की रचना की है। ऐसे कवि आचार्यों ने काव्यांगों के लक्षण भी प्रस्तुत किये हैं तथा उनके सुन्दर उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। ऐसे रीतिबद्ध काव्य की रचना करने वाले कवियों ने अपने आपको 'कवि तथा शिक्षक' माना है। इन्हें शास्त्र कवि अथवा आचार्य कहना अधिक उपयुक्त है। ऐसे रीतिबद्ध आचार्यों ने संस्कृत के अलंकार सम्प्रदाय को विशेष रूप से तथा रीति, ध्वनि तथा वक्रोक्ति को गौण रूप में आधार बनाया है। ऐसे आचार्य-कवियों ने उस समय के सामन्तों, राजाओं, नवाबों, अमीरों, रईसों, कवियों तथा रसिक सामाजिकों के लिए संस्कृत भाषा में पूर्व रचित काव्यांगों को लोकभाषा में प्रयुक्त करने का प्रयास ही किया था परन्तु ऐसे आचार्यों का मुख्य उद्देश्य तो अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करना ही था परन्तु ऐसे आचार्यों का साहित्यिक उद्देश्य तो, संस्कृत भाषा में रचित साहित्यशास्त्र का हिन्दी लोकभाषा में अनुवाद करना था। इसलिए ऐसे रीतिबद्ध आचार्य कवियों ने किसी नए काव्य सिद्धान्त की स्थापना नहीं की। इसी कारण इन रीतिबद्ध आचार्यों के लक्षण ग्रन्थों में मौलिकता अथवा गहनता नहीं आ पाई। वे तो एक पूर्व प्रतिष्ठापित बँधी-बँधाई परिपाटी का अनुसरण करते रहे। इन्हें संस्कृत-साहित्य शास्त्र का तथा संस्कृत भाषा का पूर्ण ज्ञान था, परन्तु इन्होंने संस्कृत भाषा में रचनाएँ नहीं की। इन्होंने संस्कृत साहित्यशास्त्र से तत्कालीन युग की प्रवृत्ति के अनुसार सरल, रोचक तथा शृंगारपरक सामग्री को ही ग्रहण किया। ऐसे रीतिबद्ध आचार्य अलंकारों तथा नायक-नायिका भेद आदि के निरूपण में ही उलझे रहे, उन्होंने भारतीय शास्त्र के गंभीर प्रश्नों को नहीं पूछा। रीतिबद्ध आचार्य-कवियों ने दोहरी भूमिका निभाई। वे लक्षण ग्रन्थ भी रचते रहे तथा अलंकार प्रधान कविता भी करते रहे। इन्होंने अधिकांश साहित्य पद्य में ही रचा। इस वर्ग में भी दो प्रकार के साहित्यकार सामने आते हैं। एक तो ऐसे आचार्य कवि हैं जिन्होंने लक्षण ग्रन्थ भी लिखे और साथ-साथ लक्ष्य ग्रंथ भी रचे। इस कोटि में केशवदास, चिन्तामणि, मतिराम, देव तथा पद्माकर आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दूसरे वर्ग रीतिबद्ध आचार्यों में उन काव्यशास्त्रियों का है जिन्होंने केवल लक्षण ग्रन्थ ही लिखे परन्तु कवितामय लक्ष्य ग्रंथ नहीं लिखे। ऐसे आचार्यों में श्रीपति का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है।

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि रीतिबद्ध काव्य वह है जिसमें रीति का साक्षात् निरूपण न होकर उसका निर्वाह व अनुसरण मात्र होता है। सही अर्थ में रीतिबद्ध काव्य के कवि सर्जक कवि होते हैं, आचार्य नहीं।

2. रीतिसिद्ध

‘रीतिसिद्ध’ काव्य से अभिप्राय उस दरबारी काव्य से है जिसके अन्तर्गत कवियों ने परम्परागत काव्यशास्त्र का निर्वाह करने के साथ ही उसमें सिद्धता भी प्राप्त की थी। अवलोकनीय बात यह रही है कि इन कवियों का आचार्यत्व इनके कवि-कर्म में बाधक नहीं बना। यही कारण है कि अधिकतर कवियों में रीतिग्रंथ रचने की प्रवृत्ति विद्यमान रही। भूषण जैसे वीर कवि भी रीति का मोह नहीं त्याग सके और ‘शिवराज भूषण’ नामक ग्रन्थ रच डाला। ऐसी स्थिति में संस्कृत काव्यशास्त्र को हिंदी में प्रस्तुत करके नये कवियों का मार्ग दर्शन करने की बात विद्वान कवियों के समक्ष आयी—

“सुरबानी यातैं करी, नर बानी में ल्याय ।

जाते मगु रसरिति को, सबतै समुझौ जाय ।।”

हिंदी में काव्यशास्त्र लिखकर दरबारी सम्मान प्राप्त करने की आकांक्षा तीव्र हो गयी, अतः प्रत्येक विद्वान, चाहे उसके पास कवि-हृदय था या नहीं, पद्यमय काव्य-लक्षण-ग्रंथ की रचना में जुट गया। इस प्रकार का संकेत भिखारी दास की पंक्तियों में मिलता है —

“आगे के कवि रीझि हैं तौ कविताई, न तौ

राधिका-कन्हाई सुमिरन को बहानों है ।”

रीतिबद्ध कवियों को काव्य कवि की संज्ञा दी जा सकती है। ऐसे साहित्यकारों अथवा कवियों ने अलंकारों तथा नायक-नायिका भेद आदि के लक्षण प्रस्तुत नहीं किए, पर अपने सरस एवं शृंगारपरक मुक्तक काव्य में ऐसे उदाहरणों की रचना की जिनसे एक ओर तो उनके चमत्कार की प्रतिष्ठा स्थापित हो तथा दूसरे उनकी कविता को शृंगार रस की निष्पत्ति के लिए पोषण भी मिले। ऐसे कवियों में आचार्यत्व की पदवी प्राप्त करने की लालसा चाहे रही हो, पर वे लक्षण ग्रंथ नहीं लिख पाये। अतः ऐसे कवियों को केवल काव्य-कवि या रस-सिद्ध कवि कहा जा सकता है। ऐसे रससिद्ध कवियों में ‘बिहारी’ विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि बिहारी ने अपने दोहों के माध्यम से शृंगार रस का ऐसा सुन्दर प्रतिपादन किया है कि नायक-नायिकाओं के लक्षण प्रस्तुत न करके भी दोहे के माध्यम से स्पष्ट संकेत मिल जाते हैं कि अमुक दोहे में वर्णित या चित्रित कौन-सी नायिका है।

रीतिसिद्ध कवियों ने काव्य के दोनों पक्षों अर्थात् कला पक्ष एवं भाव पक्ष पर एक समान बल दिया। भावाभिव्यक्ति हेतु इन्होंने आलंकारिक शैली को अपनाया, पर इनका मुख्य लक्ष्य तो रसानुभूति कराना था। रीतिसिद्ध कवियों को संस्कृत साहित्य का तथा संस्कृत साहित्यशास्त्र का सम्यक् ज्ञान था परन्तु उन्होंने संस्कृत जैसे लक्षण ग्रन्थ रचने का मोह नहीं रखा। उन्होंने अलंकारादि काव्यांगों के लक्षण देकर उदाहरण नहीं लिखे। उन्होंने तो उस प्रकार के साहित्य की रचना की जिसके द्वारा प्रकारान्तर से तो कोई काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त पुष्ट होता हो पर उसमें किसी सिद्धान्त विशेष का आग्रह नहीं हो। यद्यपि डॉ. नगेन्द्र आदि कुछ विद्वानों ने बिहारी को रीतिबद्ध कवि माना है परन्तु बिहारी तो रीति-सिद्ध कवि है। रीतिबद्ध कवियों को तो आचार्य की कोटि में रखा गया है परन्तु बिहारी आचार्य कवि नहीं है।

इस प्रकार सारांश में कहा जा सकता है कि रीतिकाल में उस काव्यधारा को रीतिसिद्ध काव्यधारा का नाम दिया गया है जिसमें रीतिकाव्य की बँधी बँधाई परिपाटी में विश्वास रखते हुए भी उन कवियों ने लक्षण ग्रंथ नहीं लिखे, बल्कि कविता का मुख्य उद्देश्य रस-प्राप्ति समझते हुए केवल ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जिनसे काव्यांगों को

समझा जा सकता है। 'रीतिसिद्ध' काव्य से अभिप्राय उस दरबारी काव्य से है, जिसके अन्तर्गत कवियों ने परम्परागत काव्य शास्त्र का निर्वाह करने के साथ ही उसमें सिद्धता भी प्राप्त की थी।

3. रीतिमुक्त

रीतिकाल में जो तीसरी काव्यधारा बही उस पर विद्वानों का मतभेद नहीं है। वह तो 'रीतिमुक्त काव्यधारा' है। रीतिकाल में जिन कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा स्वच्छन्दतापूर्वक 'प्रेम की कसक' या 'प्रेम की पीर' को जनता तक पहुँचाने का प्रयास किया, ऐसे कवियों को रीतिमुक्त काव्यधारा में माना गया है। इन्होंने लक्ष्य तथा लक्षण ग्रंथ नहीं लिखे, केवल मुक्तक काव्य की शैली में शृंगार, नीति, वीर तथा भक्ति की मुक्तक रचनाएँ रचीं। ऐसे कवियों में घनानन्द, बोधा, आलम, भूषण, ठाकुर, लाल, सूदन, वृन्द तथा गिरधर आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

रीतिमुक्त धारा के काव्य में भावपक्ष की प्रधानता है एवं कलापक्ष गौण है। रीतिमुक्त धारा के कवियों को स्वच्छंद धारा के रीतिवादी कवि भी कहा जा सकता है। ऐसे कवियों में घनानन्द, रसलीन, भूषण, पद्माकर आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय रहे हैं।

रीतिमुक्त काव्य को स्वच्छन्द काव्य—धारा भी कहते हैं। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्वच्छन्दतावादी काव्य व्यंजना प्रधान होता है। उसमें सांकेतिकता अधिक रहती है। इसीलिए थोड़ी बहुत मात्र में रहस्यवाद की प्रवृत्ति भी उसमें आ जाती है। इस काव्य में रूप—सज्जा की प्रधानता नहीं होती, व्यक्तिगत अनुभूतियों की यथार्थ अभिव्यक्ति पर दृष्टि रहती है। 'विक्टर ह्यूगो' ने स्वच्छन्दतावादी काव्य को रूढ़ियों से मुक्त बताया है, डंटन उसमें चमत्कार और अनुभूति की प्रधानता मानते हैं तथा डॉ. हेज ने प्रेरणा (जीवन से) को इसका प्राण कहा है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस संदर्भ में कल्पना और भावावेग पर बल दिया है—“रोमांटिक साहित्य की उत्सभूमि वह मानसिक गठन है जिसमें कल्पना के आंतरिक प्रवाह और निविड आवेग में दो निरन्तर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित्व प्रधान साहित्य रूप की प्रधान जननी हैं।” आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रकृति के मुक्त रूप और जीवन के सहज प्रवाह को स्वच्छन्दतावादी साहित्य का प्रमुख विषय समझते हैं। उनके अनुसार शिष्ट साहित्य के साथ—साथ लोक साहित्य की धारा बहती रहती है, जिसमें जीवन की सहज और निश्चल अभिव्यक्ति होती है। जब शिष्ट साहित्य पंडितों और आचार्यों की रूढ़ियों में आबद्ध हो जाता है, तो भाव की सजीवता और स्फूर्ति जीवनगत दूसरी प्राकृतिक भाव धारा से ही प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार के परिवर्तन को सच्ची नैसर्गिक स्वच्छन्दता कहना चाहिए।

4.6 रीतिकालीन काव्य की विशेषताएँ

रीतिकालीन हिंदी साहित्य की रचना, जिन सामन्तीय परिस्थितियों में हुई, उस साहित्य को साधारण लोगों के जीवन से तो सम्बद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह साहित्य तो मूलतः दरबारी या शाही साहित्य था। आश्रित कवियों तथा आचार्यों ने जिस साहित्य की सृष्टि की, उसमें तत्कालीन राजाओं या सामन्तों की शृंगार वासन् । को तृप्त करने के लिए सुरा, सुन्दरी, सुराही आदि के वर्णन के अतिरिक्त कविता रूपी कामिनी के अलंकरण एवं नायक—नायिका के नख—शिख वर्णन पर ही जोर दिया गया। इस प्रकार रीतिकालीन साहित्यकारों की समस्त शक्ति एवं श्रम नारी—शरीर के रूप में ही लगी। ऐसे रीतिकालीन साहित्य में कृत्रिमता, अलंकरण एवं शृंगारिकता की प्रधानता है। सारे रीतिकालीन हिंदी साहित्य में बहुत थोड़ा साहित्य ही ऐसा है जिसे उपयोगी तथा शक्ति का साहित्य कहा जा सकता है। वीररस—युक्त तथा नीति परक भी कुछ साहित्य रचा गया। समस्त रीतिकालीन काव्यधाराओं की विशेषताएँ इस प्रकार रही हैं।

1. **शृंगारपरक भावों की प्रधानता:** समस्त रीति साहित्य में रतिभाव, काम भाव तथा वासना एवं भाग्य वादी दृष्टिकोण ही प्रधान है। जिस प्रेम की पीर तथा अलौकिक प्रेम की भावना भक्ति काल में देखी गई उसके विपरीत रीतिकाल में लौकिक प्रेम एवं शृंगार भाव की ही प्रचुरता रीति साहित्य में व्याप्त है। भक्ति के माधुर्य भाव ने तो जैसे नग्न

शृंगारिकता की प्रवृत्ति को खुली छूट ही दे दी थी। जीवन की सामान्य घटनाओं को भी नायक-नायिका के माध्यम से बड़े ही रसीले और शृंगारपरक ढंग से प्रस्तुत किया जाता था। एक दोहा इस तथ्य के परिणाम के लिए पर्याप्त होगा जिसमें वर्षा ऋतु में फिसल जाने वाली घटना को भी शृंगार एवं कामुक-भाव में प्रस्तुत किया गया है। एक सखी दूसरी सखियों से कह रही है।

“हम सखी दाऊ ऐसे फिसले।

वो भये ऊपर, मै भई नीचे।।”

अर्थात् नायक के साथ फिसलते हुए भी काम-वासना की अभिव्यक्ति की गई है। रीतिकाल में मुक्तक लिखने वाले कवियों ने उसी शृंगार भावना की अभिव्यक्ति अपनी रचनाओं में की जिसे उर्दू-फारसी के शायर, शीशे, मद (शराब) तथा पैमाने (चषक या प्याला) में ढालते रहे। एक रीतिकालीन कवि ने लिखा है –

“सेज है सुराही है, सुरा और प्याला है,

सुबाला है, दुशाला है, विशाला चित्रशाला है।।

ऐसे भाव वाली रचनाओं को ही देखकर उस समय की शृंगार-प्रधान विलासी भावना का पता चलता है। शृंगार रस के संयोग पक्ष का चित्रण अधिक हुआ है। वैसे वियोग का भी कुछ चित्रण हुआ है। इस सन् दर्भ में डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं, “साँचा चाहे जैसा भी रहा हो इसमें ढली शृंगारिकता ही।”

2. अलंकरण की प्रवृत्ति: रीतिकालीन साहित्यकारों ने काव्य के क्षेत्र में आलंकारिकता, प्रदर्शन तथा चमत्कारपूर्ण उक्तियों को अपने काव्य का प्रतिपाद्य बनाया। उन्होंने अलंकारों को कविता रूपी कामिनी के लिए अनिवार्य घोषित किया। इसीलिए केशव ने तो यहाँ तक लिख दिया है—

“जदपि सुजाति सुलच्छिनी, सुबरन सरस सुवृत्त।

भूषण बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त।।”

अर्थात् कविता तथा बनिता चाहे कितनी ही उच्च जाति की क्यों न हो, अच्छे लक्षणों वाली सुवर्ण, रसीली तथा पुष्ट क्यों न हो परन्तु जब तक वे भूषण (अलंकार) धारण नहीं करती तब तक शोभा नहीं पा सकती। इसी कारण रीतिकाल के अधिकांश साहित्यकारों ने अलंकारों के सहारे ही अपनी रचनाएँ रचीं। अलंकार शास्त्र ही उस समय का साहित्यशास्त्र माना जाता था।

3. भक्ति एवं लोक-जीवन का चित्रण: रीतिकालीन रचनाकारों का मुख्य प्रतिपाद्य तो शृंगार रस ही रहा परन्तु उनकी रचनाओं में माधुर्य, भक्ति तथा लोक जीवन की नीति संबंधी भी कुछ रचनाएँ मिलती हैं। लेकिन उनकी संख्या है बहुत कम। राधा और कृष्ण को माध्यम बनाकर कुछ शृंगारपरक भक्ति काव्य भी रचा गया। उन्हें तो राधाकृष्ण को प्रसन्न करने के लिए शृंगारपरक मधुरा भाव की भक्ति ही अधिक उपयुक्त प्रतीत हुई। लोकाचार संबंधी जो मुक्तक अर्थात् नीतिपरक दोहे या कवित्त लिखे गए हैं उनमें भी शृंगारी भाव छिपा है।

कहा भयो नृपहूँ भए, ढोवत जग बेगार ।

ले तन सुख हरि भक्ति को, सकल सुखन को सार ।।

4. मुक्तक काव्य शैली का प्रयोग: काव्यरूपों तथा काव्य शैलियों की दृष्टि से सोचा जाए तो रीतिकालीन रचनाकारों ने प्रबंधकाव्य की अपेक्षा मुक्तक काव्यशैली को प्रमुखता प्रदान की। तत्कालीन आश्रयदाताओं को तुरंत प्रसन्न करने के लिए मुक्तक काव्यशैली की प्रवृत्ति का खूब प्रसार हुआ क्योंकि मुक्तक काव्य चुने हुए फूलों का गुलदस्ता होता है जिससे दरबार को आसानी से मोहित एवं प्रसन्न किया जा सकता है।

5. वीररस की ओजेस्वी प्रवृत्ति: रीतिकाल में ही भूषण कवि हुए हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में वीर रस का ऐसा सुन्दर एवं सरस चित्रण किया है कि उनका नाम अद्वितीय है। रीतिकाल में रचे गये साहित्य में वीर रस का अजस्र प्रवाह प्रतीत होने लगता है। इनसे संबंधित रचनाएँ सूदन-सुजान चरित, गोरे लाल पुरोहित-छत्र प्रकाश, पद्माकर भट्ट- हिम्मत बाहदूर। मध्यप्रदेश, पंजाब, राजस्थान, हरियाणा आदि प्रदेशों के संग्रहालयों में सुरक्षित है

6. नारी विषयक दृष्टिकोण: रीतिकालीन साहित्य में नारी के प्रति यह दृष्टिकोण रहा है कि उसे केवल भोग्या एवं भोग-विलास का साधन ही माना जाए। राज्याश्रित कवि भी अपनी कविता का केन्द्र नारी का नाम-शिख वर्णन मानते रहे। वे नारी के अंगों विशेषतः कच और कुचों में ही उलझे रहे। सौंदर्य का नग्न चित्रण ही उन्हें प्रिय रहा। नारी के बाह्य रूप-रंग को ही महत्त्व दिया जाता रहा। नारी जीवन के प्रति रीति कवियों का ऐसा संकुचित एवं एकांगी दृष्टिकोण निश्चित रूप से मुगल शासक की विलासी प्रवृत्ति का परिणाम कहना चाहिए।

गोरो गात पातरी न लोचन समात मुख,
उर उरजातन क बात अवरोहे।
हंसित कहित बात फूल से झरत जात ,
ओठ अवादत राती रेख मन मोहये ।

— केशव

ज्यों- ज्यों निहारिये नेरे हैं नैननि,
त्योँ त्योँ खरी निकरै सी निकाई ॥

— मतिराम

स्त्रियों की सामाजिक स्थिति दयनीय थी। वे पुरुष की सम्पत्ति अथवा भोग्या मात्र थीं। किसी कन्या का अपहरण अभिजात वर्ग के लोगों के लिए साधारण बात थी। कदाचित् इसीलिए अल्पायु में लड़कियों का विवाह अधिक प्रचलित हो गया था। बेगमों और रक्षिताओं की अनगिनत संख्या के होते हुए भी लोग वेश्याओं के यहाँ पड़े रहते थे- उनके इशारों पर लोगों के भाग्य का निर्णय तक हो जाया करता था। वस्तुतः भारतीय इतिहास में यह घोर पतन का युग था। रीतिकालीन कवियों द्वारा नारी के चित्रण से उसकी सामाजिक परिस्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः इस काल का कवि अपने आश्रयदाताओं के भोगपरक जीवन को देखकर और उस प्रकार के जीवन को यश और सम्मान का कारण समझकर उसे कल्पना और वाग्वैदग्ध्य के बल पर अपनी चरम सीमा तक घसीट ले जाने के लिए मजबूर था।

7. रीतिकाव्य में प्रकृति चित्रण:

सुषमा अभूत छाया रही प्रति भौन भौन,
चौदनी के भारत देखात उनयोँ सो चंद,
मेरे जान पौन सीरे ठौर को पकरि काहूँ,
धरि एक बैठ कहूँ घामे चितवत है ।

— सेनापति

रीतिकालीन काव्य में रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में प्रकृति का चित्रण विशेष रूप से आलम्बन रूप में ही किया है। संयोग—शृंगार में सुखद तथा वियोग शृंगार में दुःखद प्रकृति का चित्रण हुआ है। षड्भूत वर्णन तथा बारहमासा चित्रण भी किया गया है। वियोग की अवस्था में प्रकृति के सुखद उपादान भी दुःखद हो जाते हैं। ऐसे चित्रण बड़े ऊहात्मक भी हो गए हैं, क्योंकि चन्द्रमा की चांदनी वियोगिनी नायिका के लिए कसाई का काम करती हुई दिखाई गई है।

8. कामशास्त्रीय चित्रण मनोवैज्ञानिक आधार पर: रीतिकालीन साहित्य में स्त्री—पुरुष के यौन—संबंधों को वात्स्यायन के कामसूत्र तथा कोका के कोकशास्त्रीय आधार पर चित्रित करते हुए जिस मनोवैज्ञानिक आधार की बात कही जाती है उसे ही आधुनिक युग में फ्रायडवादी दृष्टिकोण कह दिया जाता है। परन्तु रीतिकालीन रचनाकार तो संस्कृत की कामशास्त्रीय परम्परा से प्रेरित थे रीतिकालीन साहित्य में कामुकता तथा ऐन्द्रियता की बहुत अधिकता है। नायक—नायिका भेद भी कामुक दृष्टिकोण से ही किए गए हैं। पदिमनी, हंसिनी, हस्तिनी तथा चित्रणी आदि नायिकाएँ उनकी मानसिक तथा कामुक प्रवृत्ति के आधार पर ही चित्रित की गई हैं।

9. स्वतंत्र चिन्तन का अभाव: रीतिकालीन रचनाकारों ने अपनी आजीविका के लिए जो साहित्य रचा उसमें मौलिकता तथा स्वतंत्र चिन्तन की अत्यन्त कमी दिखती है। उन्हें तो अपने आश्रयदाताओं की रुचि के अनुसार नायक—नायिका भेद अथवा काम—क्रीड़ाओं का ही अधिक चित्रण करना था। संस्कृत साहित्य से विषय—वस्तु लेकर उसे लोकभाषा में रूपान्तरित करके ही उन्हें संतुष्ट होना पड़ता था।

10. यथार्थ जीवन के प्रति विचार: रीतिकालीन हिंदी साहित्य में सबसे महत्वपूर्ण प्रवृत्ति यही है कि उसमें यथार्थ जीवन के प्रति गहरी अभिरुचि दिखाई गई है। रीतिकालीन कवियों एवं आचार्यों (वृन्द, गिरिधर कविराय, बैताल, दीनदयाल गिरि, सम्मन, बिहारी, केशव, मतिराम) का जीवनदर्शन ही ऐसा था जिसमें जीवन तथा यौवन का पूर्ण उपयोग करना था। डा. भगीरथ मिश्र ने रीतिकालीन रचनाकारों को यौवन तथा बसंत के कवि कहा है।

उसे मस्ती से भरा मदमाता जीवन दर्शन कह सकते हैं। जहां जीवन को ऐसा विश्राम—स्थल समझा गया कि सब प्रकार की दौड़—धूप से शान्त होकर नारी के आंचल की मधुर छाया में, मदिरा के चषकों में उंडेल दिया हो। दुःखो एवं परभावों को भूल कर जीवन को जीने की ही नहीं अपितु भोगने और ऐश करने की प्रवृत्ति से जो आशावादी दृष्टिकोण विकसित हुआ उससे तत्कालीन समाज को यदि कुछ न मिला हो पर आश्रयदाताओं तथा आश्रित कवियों में तो कम से कम जीवित रहने की प्रबल इच्छा पनपी।

11. रीतिकालीन संदर्भ काव्यभाषा: प्रत्येक युग के साहित्यकार अपने परिवेश तथा मानसिक दबाव के कारण अपने साहित्य में कुछ विशिष्ट शब्दों, मुहावरों, विशेषणों तथा लोकोक्तियों को अपनी अभिव्यंजना पद्धति में सम्मिलित करते हैं। रीतिकालीन कवियों ने भी ऐसा ही किया, 'राधा' और 'कृष्ण' शब्दों का प्रयोग साधारण नायक—नायिका के रूप में होने लगा। रीतिकालीन हिंदी काव्य में फारसी के प्रभाव के कारण ऐसी अभिव्यंजना शैली का विकास हुआ जो कृत्रिम तथा ऊहात्मक थी। साथ ही हमें रीतिकाल में ब्रजभाषा के गद्य के रूप का विकास हुआ है।

“एक जीव द्रव्य ताके अनन्त गुन अनन्त पर्याय।

जीव पिण्ड की अवस्था याहि भाँति।”

12. रागात्मक प्रवृत्ति: भक्तिकाल में प्रकृति और निवृत्ति दोनों ही जीवन मार्गों पर चलने वाले साहित्य की रचना हुई परन्तु रीतिकाल में तो रागात्मक वृत्ति अथवा प्रवृत्ति मार्ग को ही अपनाया गया है। स्वकीया तथा परकीया दोनों प्रकार की नायिकाओं के माध्यम से जिस लौकिक प्रेम अथवा रागात्मक वृत्ति की कविता रची गई है, उनमें वैराग्य भाव या निवृत्ति मार्ग तो नगण्य ही है।

13. ब्रजभाषा की प्रधानता: रीतिकालीन हिंदी साहित्य की अधिकांश काव्य भाषा तो ब्रज ही है पर कुछ नीति साहित्य पंजाबी, कन्नौज, हरियाणवी तथा अवधी भाषा में भी रचा गया है। भाषा की दृष्टि से रीतिकालीन हिंदी साहित्य में माधुर्य गुण की कोमलता अत्यन्त आकर्षक है। लोक ब्रज को साहित्य के उच्च स्तर तक ही नहीं बल्कि उच्च शिखर पर पहुंचाने का कार्य हिंदी के रीतिकालीन रचनाकारों ने किया।

14. राज प्रशास्ति: रीतिकाल के अधिकांश कवि राज्याश्रित कवि थे, राजाओं के आश्रय में रहते थे। इसलिए इन आश्रयदाताओं का गुणगान करना इनकी मजबूरी थी।

4.7 सारांश

हिंदी में काव्य शास्त्र का द्वार खोलने का श्रेय इन रीति ग्रंथकारों को अवश्य दिया जा सकता है काव्य रसिकों को काव्यांगों की जानकारी प्रदान कर उन्होंने काव्य के प्रति लोगों का रुझान को बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

रीतिमुक्त कवियों की प्रवृत्ति मुक्तक रचना की अधिक रही है। लाक्षणिक ब्रजभाषा का प्रयोग इनके काव्य में हुआ है जिसमें भाव व्यंजना की अपूर्ण क्षमता है। निश्चय ही रीतिमुक्त कवियों वेफ प्रदेय ने हिंदी साहित्य की पर्याप्त श्री वृद्धि की है।

भाषा की दृष्टि से रीतिकालीन हिंदी साहित्य में माधुर्य गुण की कोमलता अत्यन्त आकर्षक है। लोक ब्रज को साहित्य के उच्च स्तर तक ही नहीं बल्कि उच्च शिखर पर पहुंचाने का कार्य हिंदी के रीतिकालीन रचनाकारों ने किया।

4.8 मुख्य शब्दावली

कनक	—	सोना
मनमोहक	—	दिल को लुभाने वाला
नखशिख वर्णन	—	पैर के नाखूनों से लेकर सिर के बालों तक का सौंदर्य वर्णन
उद्दीपन	—	जगाना, उत्तेजित करना
रीतिइतर	—	रीति से अलग

4.9 अभ्यास हेतु प्रश्न

1. रीति शब्द का अभिप्राय बताते हुए, रीतिकाल के नामकरण पर प्रकाश डालिए।
2. रीतिकाल की परिस्थितियों पर प्रकाश डालिए।
3. रीतिकाल परिवेश : ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक पर प्रकाश डालिए।
4. रीतिकालीन प्रमुख काव्य विशेषताओं का परिचय दीजिए।
5. रीतिकालीन प्रमुख काव्यधाराओं का परिचय दीजिए।
6. रीतिकालीन कवियों का आचार्यत्व पर प्रकाश डालिए।

4.10 आप ये भी पढ़ सकते हैं

1. आचार्य शुक्ल का हिंदी साहित्य का इतिहास 1929 ई.

2. पं. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का हिंदी साहित्य का इतिहास 1931 ई.
3. श्री सूर्यकान्त शास्त्री का 'हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास 1932 ई.
4. डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी का हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास 1932 ई.
5. डॉ. रामकुमार वर्मा हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास 1936ई.
6. पं. अयोध्यासिंह उपाध्याय का हिंदी भाषा और उसके साहित्य का विकास 1934 ई.
7. डॉ. बच्चन सिंह द्वारा रचित 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास'
8. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित 'हिंदी साहित्य'
9. डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय द्वारा रचित 'हिंदी साहित्य का इतिहास'
10. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने साहित्योतिहास के तीन महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है—
 1. 'हिंदी साहित्य की भूमिका' संस्करण 1940 ई.
 2. 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' 1952 ई.
 3. 'हिंदी साहित्य – उद्भव और विकास', 1955 ई.

लघुत्तरी प्रश्न

1. साहित्येतिहास-दर्शन का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर— सामान्यतः साहित्य समाज सापेक्ष होता है। प्रत्येक साहित्यकार अपने युगीन वातावरण एवं परिस्थितियों से अवश्य प्रभावित होता है और कभी-कभी वह अपनी रचना से युग को भी प्रभावित करता है। इस प्रकार साहित्य एवं युगीन स्थिति का परस्पर घनिष्ठ संबंध होता है। साहित्यिक रचना के साथ-साथ उस युगीन परिस्थितियों का अंकन करना ही साहित्येतिहास का दर्शन कहलाता है।

2. साहित्येतिहास लेखन की कितनी विधियाँ हैं ?

उत्तर— साहित्येतिहास लेखन की मुख्यतः निम्नलिखित विधियाँ होती हैं—

1. अकारादिक्रम विधि — इसमें साहित्यकारों का परिचय वर्णमाला के क्रमानुसार दिया जाता है।
2. कालक्रम विधि — इसमें साहित्यकारों के जन्म आदि के अनुसार उनकी रचनाओं का मूल्यांकन किया जाता है।
3. परिस्थिति-प्रवृत्तिमूलक विधि— इसमें युग विशेष की परिस्थितियों के अनुरूप रचनाओं का वर्णन किया जाता है।
4. वैज्ञानिक अनुसंधान विधि — इसमें साहित्य के एक पक्ष को लेकर उससे संबंधित सभी तथ्यों का संकलन किया जाता है।
5. समाजशास्त्र सम्मत विधि — इस विधि में लेखक समाजशास्त्र के सिद्धान्तों को ध्यान में रख कर साहित्येतिहास की रचना करता है।

3. साहित्येतिहास लेखन की अकारादिद्रम विधि से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर— यह साहित्येतिहास लेखन एक विधि है। इसमें वर्ण क्रम के अनुसार साहित्यकारों का परिचय दिया जाता है। यह अत्यधिक प्राचीन विधि है। इसका आधुनिक समय में प्रचलन नहीं के बराबर फ्रैंच विद्वान गार्सा-द-तासी 'इस्त्वार द ला लित्रंतूर ऐंदूर् ईंदुस्तानी' इसी विधि द्वारा लिखा गया साहित्येतिहास है।

4. कालक्रम विधि से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर— साहित्येतिहास लेखन की यह एक अपेक्षाकृत अच्छी विधि है। इसमें साहित्यकारों के जन्म काल के अनुसार उनकी रचनाओं को क्रमबद्ध करके अध्ययन किया जाता है। इस विधि की मुख्य त्रुटि यह है कि जिस कवि का जन्म बाद में हुआ है, परन्तु उसने रचना कम आयु में ही लिख दी है उसका नाम उस कवि के ऊपर आ जाता है जिसका पहले जन्म हुआ हो, परन्तु उसका साहित्यिक जीवन बाद में आरम्भ हुआ हो। जार्ज ग्रियर्सन द्वारा रचित 'दि मॉडर्न वार्नक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिंदोस्तान' इसी विधि द्वारा लिखा गया साहित्येतिहास है।

5. परिस्थिति- प्रवृत्तिमूलक विधि पर प्रकाश डालिए।

उत्तर— यह साहित्येतिहास लेखन की एक श्रेष्ठ विधि है। इसमें किसी युग विशेष की विभिन्न परिस्थितियों जैसे — धार्मिक, राजनीतिक आदि के आलोक में साहित्यकारों की रचनाओं का मूल्यांकन किया जाता है। इस विधि की मुख्य कमी यह है कि एक ही युग में विभिन्न जीवन-दृष्टि रखने वाले दो कवियों के साथ यह विधि समुचित न्याय नहीं कर पाती। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा रचित 'हिंदी साहित्य का इतिहास' इसी विधि द्वारा लिखा गया साहित्येतिहास है।

6. हिंदी साहित्येतिहास लेखन में खड़ी बोली और इतर भाषाओं के समावेश पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—हिंदी साहित्येतिहास लेखन की इस बड़ी समस्या की ओर शिवदान सिंह चौहान ने आकर्षित किया है। हिंदी साहित्य के आरम्भिक और मध्य काल तक राजस्थानी, ब्रजभाषा, अवधी आदि भाषाओं में रचित साहित्य का बाहुल्य है और आधुनिक काल में खड़ी बोली का वर्चस्व स्थापित हो गया है। परन्तु आज भी अवधी, राजस्थानी आदि भाषाओं का प्रचलन है। और इनमें साहित्यिक रचनाएँ भी लिखी जा रही हैं। परन्तु आधुनिक साहित्य में उनका समावेश नहीं किया जाता। यही हिंदी साहित्येतिहास लेखन में खड़ी बोली और इतर भाषाओं के समावेश की समस्या है।

7. आदिकाल के नामकरण की विवेचना कीजिए ?

उत्तर—हिंदी साहित्येतिहास लेखन में आदिकाल का नामकरण एक विवादास्पद विषय रहा है। इसके नामकरण और काल—निर्धारण के संदर्भ में विद्वानों के विचार आपस में नहीं मिलते। आचार्य शुक्ल ने आदिकाल को 'वीरगाथाकाल', मिश्र बन्धुओं ने प्रारम्भिक काल, डॉ. रामकुमार वर्मा ने 'संधि एवं चारण काल', राहुल सांकृत्यायन ने 'सिद्ध सामंतकाल' कहा है। इसी प्रकार इसकी काल—सीमा पर भी विद्वानों में असहमति है। अतः हिंदी साहित्येतिहास लेखन में आविर्भाव काल अथवा आदिकाल का नामकरण एक समस्या बना हुआ है।

8. आदिकाल के गद्य साहित्य का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

उत्तर—हिंदी साहित्य के आरम्भिक काल के कवियों ने अपनी पूर्ववर्ती कवियों का अनुसरण करते हुए अधिकांश साहित्यिक रचनाएँ पद्य शैली में ही लिखीं। फिर भी गद्य शैली का कुछ साहित्यकारों ने प्रयोग किया। आदिकाल गद्य साहित्य को दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है—चम्पू काव्य जैसे 'राउलवेल', 'उक्ति—व्यक्ति—प्रकरण', तथा शुद्ध गद्य साहित्य जैसे — वर्ण रत्नाकर।

9. हिंदी साहित्य के आदिकाल के नामकरण एवं काल सीमा पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—जार्ज ग्रियर्सन ने आदिकाल को 'चारण काल' कहा है तथा इसकी सीमा 700 ई. से 1300 ई. माना है। मिश्रबन्धुओं ने आदिकाल को 'प्रारम्भिक काल' कहकर इसकी समय सीमा 700 वि. से 1444 वि. तक मानी है। आचार्य शुक्ल ने इसे 'वीरगाथाकाल' कहकर इसकी अवधि सं. 1050 से 1375 तक मानी है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने इसे दो भागों — संधि काल (सं. 750 से सं. 1000) तथा चारण काल (सं. 1000 —1375) में बांटा है। हिंदी साहित्य के आविर्भाव काल को 'आदिकाल' नाम हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दिया है तथा इसकी समय सीमा 1000 ई. से 1400 ई. तक मानी है।

10. आदिकालीन सांस्कृतिक व साहित्यिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर— आदिकालीन युग में दो संस्कृतियों के संक्रमण एवं ह्रास—विकास का युग है। यद्यपि आरम्भ में हिन्दू संस्कृति अपने उच्चतम शिखर पर दिखाई देती है परन्तु धीरे—धीरे मुसलमानों के आक्रमणों से यह टूटती—बिखरती सी दिखाई पड़ती है। मुस्लिम शासकों के मूर्ति—विरोधी होने के कारण मूर्तिकला को गहरा आघात पहुँचा है। संगीतकला, चित्रकला, वास्तुकला आदि पर मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव पड़ता दिखाई देता है। साहित्य के क्षेत्र में (क) संस्कृत, (ख) प्राकृत व अपभ्रंश तथा (ग) हिंदी, इन तीन धाराओं का अधिक प्रचलन था। संस्कृत मुख्यतः राजकवियों की भाषा बन चुकी थी, प्राकृत व अपभ्रंश धर्म के प्रचार व प्रसार का माध्यम बन चुकी थी और हिंदी 'लोक—जीवन' का प्रतिनिधित्व करती थी।

11. आदिकालीन साहित्य—सामग्री का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर—आदिकालीन साहित्य सामग्री को मुख्यतः तीन भागों — धार्मिक साहित्य, लौकिक साहित्य एवं इतर साहित्य में

बांट सकते हैं। धार्मिक साहित्य में जैन साहित्य, सिद्ध साहित्य एवं नाथ साहित्य को सम्मिलित किया जाता है। जैन साहित्य मुख्यतः अपभ्रंश में लिखा हुआ है, सिद्ध साहित्य की भाषा को 'सांध्य भाषा' कहा गया है तथा नाथ साहित्य जनभाषा में लिखा हुआ है। लौकिक साहित्य में वीरगाथापरक काव्य अर्थात् रासो काव्य आता है जिसकी भाषा डिंगल व पिंगल है। इतर साहित्य में प्रेमकाव्य, स्वच्छन्द काव्य आते हैं।

12. सिद्ध साहित्य का संक्षिप्त में विवेचन कीजिए।

उत्तर— सिद्धों की संख्या 84 मानी गई है परन्तु अभी तक लगभग 14 सिद्धों की ही रचनाएं प्रकाश में आई हैं। राहुल सांकृत्यायन ने 'हिंदी काव्यधारा' में इन सिद्धों की वाणियों का संग्रह प्रस्तुत किया है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि उनकी रचनाएं चर्चागीतों और दोहों के रूप में हैं। सिद्ध साहित्य समाज सापेक्ष ही है, परन्तु उसमें सामाजिक विद्रोह की भावना बहुत अधिक दिखाई देती है। उसमें पाखंडों, आडम्बरो आदि का विरोध किया गया है। उनकी भाषा को 'सांध्य भाषा' कहकर पुकारा जाता है।

13. जैन साहित्य का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

उत्तर—जैन साहित्य की अधिकांश रचनाएं अपभ्रंश में हैं। प्रसिद्ध जैन कवियों में देवसेन, स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल आदि का नाम लिया जा सकता है। जैन साहित्य में चरित व फाग दो शैलियों का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है जैसे भतारेश्वर बाहुबली रास, चंदनबाला रास, स्थूल भद्र रास आदि जैन साहित्य की रचनाएं प्रबंध एवं मुक्तक दोनों ही रूपों में विद्यमान हैं। जैन कवियों ने अपनी रचनाओं के चांचर, चतुष्पदी, कवित्त, दोहा आदि छंदों का सर्वाधिक प्रयोग किया है।

14. नाथ साहित्य पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर—नाथों में मुख्यतः नौ नाथ गिने जाते हैं जिनमें गोरखनाथ सर्वोपरि हैं। नाथ साहित्य की सबसे बड़े विशेषता यह है कि यह साधनापरक है। इसमें कुंडलिनी के षट्चक्रों को भेदकर सहस्त्र में पहुंचने पर समाधि अवस्था का ही चित्रण अधिक हुआ है। सिद्धों की भांति नाथों में भी अपने काव्य में रूपक तत्वों का प्रयोग किया है। उनका साहित्य मुख्यतः साखी, शब्द, दोहा, सोरठा आदि जैसे छन्दों से युक्त है। अभी नाथों का सम्पूर्ण साहित्य प्रकाश में नहीं आया है।

15. विद्यापति का साहित्यिक परिचय लिखिए।

उत्तर—विद्यापति का जन्म सन् 1360 ई. में स्वीकार किया जाता है। वे एक बहुआयामी साहित्यकार थे। उन्होंने तीन भाषाओं संस्कृत, अवहट्ट, मैथिली में काव्य रचना की। इनकी ख्याति का मुख्य आधार मैथिली भाषा में रचित 'पदावली' है। इसमें लगभग एक हजार पद हैं जो आज भी गीत के रूप में गाए जाते हैं। विद्यापति मूलतः शृंगारी कवि हैं। उन्होंने 'पदावली' में श्रीकृष्ण राधा को नायक-नायिका के रूप में चित्रित करके शृंगार रस से भरे पदों की रचना की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने गोरक्ष विजय नामक नाटक भी लिखा है जिसकी भाषा संस्कृत एवं मैथिली है।

16. अमीर खुसरो के साहित्यिक परिचय दीजिए।

उत्तर—अमीर खुसरो का जन्म सन् 1253 ई. में आधुनिक एटा जिला के पटियाली गांव में हुआ था। उन्होंने अपने जीवन में लगभग 99 ग्रंथों की रचना की जिनमें से अधिकांश फारसी भाषा में थे। यद्यपि हिंदी भाषा में अभी तक उनकी कोई भी प्रामाणिक रचना प्राप्त नहीं हुई है परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि वे खड़ी बोली के प्रथम कवि थे। उनकी हिंदी कविताओं को बारह भागों — पहेलियाँ, मुकरियाँ, निस्बतें, दोसुखने, ढकोसला, गीत, कव्वाली, फारसी — हिंदी मिश्रितछन्द व गजल, फुटकल छन्द और 'खालिकबारी' में बांट सकते हैं। 'खालिकबारी' उनकी बहुचर्चित रचना है।

17. भक्तिकाल की सामाजिक परिस्थितियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उत्तर—भक्तिकालीन युग में भारतीय समाज में हिन्दुओं व मुसलमानों का आधिपत्य था। आरम्भ में एकता दिखाई देती है, परन्तु धीरे-धीरे धार्मिक कट्टरता के कारण दोनों समुदाय एक दूसरे से दूर होते चले गए। चूंकि हिन्दू विजित थे इसलिए उन्हें समाज में अब उतना आदर व सम्मान प्राप्त न था। मुस्लिम शासकों की रूप लिप्सा के कारण हिंदी स्त्री भी परदे के भीतर कर दी गई। कट्टर हिंदू मुसलमानों से दूरी बनाए हुए थे। धीरे-धीरे इस स्थिति में बदलाव आने लगा और अकबर के शासन काल में दोनों समुदायों के बीच यह कटुता काफी कम हो गई थी।

18. भक्तिकाल की साहित्यिक परिस्थिति का विवरण दीजिए।

उत्तर— भक्तिकाल के आरम्भ में संस्कृत ही साहित्य की भाषा थी जबकि राजकाज की भाषा फारसी बनती जा रही थी। यह एक निर्विवाद सत्य है कि उस समय हिंदी का प्रचलन जोरों पर था, परन्तु संस्कृत और फारसी के सामने वह महत्वहीन ही थी। जो कवि राजदरबार का आश्रय लिए हुए थे वे राजाओं की प्रशंसा में काव्य रचना करने में लीन थे। दूसरी ओर, धर्म की व्याख्या करने वाले काव्यों में उच्च कोटि का ज्ञान प्राप्त होता है। धर्म से सम्बन्धित साहित्य लोक एवं परलोक दोनों के विषय में मार्गदर्शन करता है।

19. भक्तिकाल के गद्य साहित्य पर प्रकाश डालिए।

उत्तर— वस्तुतः रीतिकाल तक हिंदी में जो भी गद्य साहित्य लिखा गया, उसमें शुद्ध गद्य की साहित्यिक प्रवृत्ति कम ही मिलती है। भक्तिकाल में लिखित गद्य साहित्य को मुख्यतः ब्रजभाषा, खड़ी बोली, राजस्थानी भाषा व दक्खिनी हिंदी में बांटा जा सकता है। ब्रजभाषा के गद्य साहित्य में ध्रुवदास का 'सिद्धान्त विचार', नाभादास का 'अष्टायाम' आदि प्रमुख हैं। खड़ी बोली में गंग कवि की 'चन्द्र छन्द बरनन की महिमा', जटमल का चम्पूकाव्य 'गोरा बादल की कथा', के अतिरिक्त भोगलु पुराण व 'गेणस गोसठ' का नाम लिया जा सकता है। राजस्थानी भाषा में 'पृथ्वीचन्द्र चरित' तथा दक्षिणी हिंदी में 'हिदायतनामा', 'शिकारनामा' आदि प्रमुख हैं।

20. भक्तिकालीन खड़ी बोली गद्य साहित्य का परिचय लिखिए।

उत्तर— भक्तिकालीन खड़ी बोली व गद्य साहित्य को दो वर्गों में बांटा जा सकता है – साहित्यिक प्रकार में वात शीर्षक से कथा-कहानी के रूप में और अन्योक्ति कथा के रूप में गद्य साहित्य प्राप्त होता है जबकि असाहित्यिक प्रकार में – टीका, टिप्पणी आदि के रूप में गद्य साहित्य प्राप्त होता है। इस काल में हिंदी की सभी उपभाषाओं राजस्थानी, मैथिली, खड़ी बोली आदि सभी में तुकमय गद्य की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इस काल के गद्य साहित्य में जटमल की रचना 'गोरा बादल की कथा' (चम्पूकाव्य) महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसके अतिरिक्त 'कुतुबशतक', 'भोगलुपुराण' आदि भी गद्य साहित्य की अनुपम रचनाएँ हैं।

21. भक्तिकालीन राजस्थानी गद्य साहित्य का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

उत्तर—राजस्थान की सभी बोलियों में केवल मारवाड़ी बोली ही सर्वाधिक गद्य सम्पन्न है। भक्तिकाल में समस्त राजस्थानी भाषा में प्राप्त गद्य साहित्य की रचनाओं में 'तत्व विचार प्रकरण', 'पृथ्वीचन्द्र चरित्र', 'धनपाल कथा', 'अंजना सुंदरी' कथा आदि प्रमुख हैं। इन रचनाओं में तुकबंदी और पद्यमय शैली का भी आश्रय लिया गया है। इनके अतिरिक्त राजस्थानी भाषा के गद्य साहित्य में 'उपदेश माला', 'योगशास्त्र' आदि जैसी कुछ कथात्मक व्याख्याएँ भी प्राप्त होती हैं। राजस्थानी गद्य साहित्य में प्राप्त सभी रचनाओं में 'पृथ्वीचन्द्र चरित्र' सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

22. भक्तिकालीन ब्रजभाषा गद्य-साहित्य पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—यद्यपि भक्तिकाल में गोरखनाथ के नाम से अनेक गद्य रचनाएँ प्राप्त होती हैं, परन्तु उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। सही अर्थों में भक्तिकाल की गद्य साहित्य की रचनाओं में ध्रुवदास की 'सिद्धान्त विचार', नाभादास की

‘अष्टायाम’, बनारसीदास जैन की ‘परमार्थवचनिका’ आदि का नाम उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त ‘चौरासी वैष्णव वार्ता’ भी भक्तिकाल के अंतिम पड़ाव की रचना मानी जाती है। इनके अतिरिक्त केशवदास की ‘रसिक प्रिया’ व ‘कविप्रिया’ में भी टिप्पणी के रूप में गद्य शैली का प्रयोग किया गया है।

23. संत काव्यधारा के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालिए।

उत्तर संत काव्यधारा मुख्यतः निर्गुणोपासक है। संत कवियों ने अपने काव्य की रचना काव्यशास्त्र की दृष्टि नहीं की थी। अतः वे काव्य की आत्मा, रस निष्पत्ति आदि के विषय में उदासीन ही रहे। उनके काव्य में रस की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता ‘साधारणीकरण’ विद्यमान है। कबीर, दादूदयाल आदि कवियों ने दाम्पत्य प्रतीकों के माध्यम से शृंगार रस का संचार किया है। संत काव्य की भाषा जनसाधारण की भाषा है। वह सरल, सहज व अकृत्रिम है। उसमें अनेक बोलियों के शब्द विद्यमान हैं। उनके काव्य में रूपक, उपमा, दृष्टांत, अन्योक्ति, अत्युक्ति, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि संत काव्य की प्रमुख विशेषताएं उसके अनुभूति पक्ष में दिखाई देती हैं।

24. सूफी काव्यधारा के वैशिष्ट्य का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

उत्तर—सूफी काव्यधारा को प्रेमाख्यान काव्यधारा भी कह कर पुकारा जाता है। इस काव्यधारा की कथावस्तु में स्वाभाविकता की अपेक्षा वैचित्र्य को ही प्रमुखता दी गई है। अधिकांश काव्य प्रबंधात्मक है जिनके पात्र मानव व मानवेतर दोनों की श्रेणियों के होते हैं। अनेक स्थलों पर वस्तु वर्णन विशेषकर नायिका के अंगों का वर्णन विस्तारपूर्वक हुआ है। काव्य में शृंगार रस के संयोग व वियोग दोनों ही पक्षों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन हुआ है। सूफी काव्यधारा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि शैली की दृष्टि से सभी काव्य रचनाओं में अन्योक्ति व समासोक्ति का सहारा लिया गया है।

25. राम काव्यधारा के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालिए।

उत्तर— भक्तिकालीन राम काव्यधारा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके राम नर से नारायण बन चुके हैं; उन्हें देवत्व का पद प्राप्त हो चुका है। अधिकांश राम भक्त कवियों ने दास्य भाव से ही राम की इसने की है और समन्वय की भावना का वे बार बार प्रदर्शन करते हैं। राम काव्य में भारतीय संस्कृति का पोषण हुआ है और उसमें मर्यादा की महत्ता को सिद्ध किया गया है। इसमें काव्यशास्त्र में वर्णित लगभग सभी रसों का सफलतापूर्वक निर्वाह हुआ है। यद्यपि भाषा की दृष्टि से राम—भक्त कवियों में एकजुटता का अभाव दिखाई देता है क्योंकि स्वयं तुलसीदास ने अपने रामकाव्य को अवधी व ब्रजभाषा में लिखा, उनका अनुसरण करते हुए अन्य राम भक्त कवियों ने भी अपनी अपनी भाषा को ही अभिव्यक्ति का साधन बनाया। अधिकांश राम काव्य में दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, सोरठा, बरवै आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है। राम काव्य में वासनात्मक भावों का नितांत अभाव है।

26. कृष्ण काव्यधारा के वैशिष्ट्य का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उत्तर— भक्तिकालीन कृष्ण काव्यधारा के अधिकांश कवियों ने या तो बालकृष्ण की इसने की है या फिर, युवा श्री कृष्ण की जो गोपियों को छोड़कर मथुरा चले गये थे। अधिकांश काव्य श्रीकृष्ण के इन्हीं दो रूपों के इर्द गिर्द घूमता है। उसमें महाभारत के योगेश्वर श्रीकृष्ण के कहीं भी दर्शन नहीं होते। अतः अधिकांश कृष्ण—काव्य में वर्णित लीलाएँ आनंद देने वाली हैं। इस काव्यधारा में कहीं तो सख्य भाव से तो कहीं दास्य भाव तो कहीं वात्सल्य भाव तो कहीं शांत भाव से कृष्ण की इसने की गई है। इस काव्य में वात्सल्य एवं शृंगार रस का आधिपत्य है। अधिकांश काव्य ब्रजभाषा में है जिसमें चौपाई, छप्पय, कवित्त, सवैया आदि छंदों का प्रयोग हुआ है। रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा आदि अलंकारों का बहुतायत में प्रयोग हुआ है। अधिकांश काव्य गेय हैं और उसमें बिम्ब योजना का प्रयोग हुआ है।

27. भक्तिकालीन काव्य की उपलब्धि पर प्रकाश डालिए।

उत्तर— भक्तिकालीन काव्य की सबसे बड़ी आरंभ पहली उपलब्धि यही है कि इस काल ने हिंदी साहित्य जगत को उच्च कोटि व बड़े महत्व के कवि प्रदान दिए। उन्होंने अपने काव्य के योगदान से हिंदी साहित्य को अत्यंत समृद्ध कर दिया। पहली बार, काव्य और भक्ति का इतने व्यापक स्तर पर समन्वय हुआ, सामंजस्य हुआ, इस काल के कुछ कवियों जैसे कबीर आदि ने एक ओर जहां धार्मिक पाखंड, आडम्बर आदि के किले को मटियामेट कर दिए वहीं तुलसीदास, सूरदास आदि जैसे कवियों ने उन खण्डहरों के स्थान पर भक्ति के नए-नए भवन बनाए हैं जिनमें प्रवेश पाकर शोषित व पीड़ित जनता को शांति मिली। सूफी काव्यधारा ने इस शोषण व पीड़ा त्रस्त जनता को प्रेम का एक नया पाठ पढ़ाया। जन्त्र, मंत्र, टोने-टोट के, पाखंडों आदि से लिप्त जनता का ध्यान अद्वैतवाद, राम कृष्ण आदि की ओर गया और उसमें एक नयी शक्ति का संचार हुआ।

28. रीतिकाल के नामकरण पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—वस्तुतः उत्तर मध्य काल के नामकरण को लेकर विद्वानों में मतभेद रहे हैं। मिश्रबंधुओं ने इसे अलंकृत काल कहा है तो आचार्य शुक्ल ने इसे रीतिकाल नाम दिया है। पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे शृंगार काल कहा। इसी प्रकार डॉ. रमाशंकर शुक्ल रसाल ने इसे कला कला कहा है और डॉ. भगीरथ मिश्र ने इसे रीति शृंगार काल कहा है। इन सभी नामों में केवल रीतिकाल नाम ही अधिक उपर्युक्त एवं न्याय संगत है, क्योंकि इस काल के अधिकांश ग्रंथ रीति सम्बन्धी ही थे और कवियों की प्रवृत्ति भी केवल रीति ग्रंथों को रचने की थी। यद्यपि सूदन, धनानंद जैसे कवियों ने किसी भी रीतिग्रंथ की रचना नहीं की थी, और इस दृष्टि से वे इस प्रवृत्ति में नहीं आते, फिर भी रीति कवियों व रीति ग्रंथों का बाहुल्य देखते हुए इसे रीतिकाल कहना सर्वथा उपर्युक्त है।

29. रीतिकाल की साहित्यिक परिस्थितियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उत्तर— साहित्य की दृष्टि से रीतिकाल अत्यंत समृद्ध युग रहा है। फारसी भाषा राजकीय भाषा थी। अतः इसकी अलंकारप्रधान शैली का अन्य सभी भाषाओं पर प्रभाव पड़ा। अधिकांश कवि दरबारी कवि थे अतः उनके काव्य में अपने आश्रयदाता के गुणगान की प्रधानता है। कवियों ने अपने काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए संस्कृत भाषा की ओर ताकना आरम्भ कर दिया। इस काल के कवियों का मुख्य उद्देश्य अपने सामर्थ्य का प्रदर्शन करना और काव्य रसिक समुदाय में काव्य रीति के ज्ञान का प्रसार करना था। जो कवि दरबारी नहीं थे, उनका काव्य दरबारी कवियों की तुलना में अधिक प्रभावशाली दिखाई पड़ता है। अतः कहा जा सकता है कि रीतिकाल हिंदी साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखता है।

30. रीतिकाल की सांस्कृतिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर— रीतिकाल में सांस्कृतिक परिस्थितियां अधिक अनुकूल नहीं थी। औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता के कारण हिंदी मुस्लिम समुदाय दूर दूर रहने लगे थे। वैष्णव सम्प्रदाय के पीठाधीश अपने-अपने राजाओं, श्रीमानों की गुरु दीक्षा देते देते स्वयं उनके समान विलासी हो गए थे। वे राम कृष्ण की लीलाओं में भी अपने विलासी जीवन की संगति खोजने लगे थे। धर्म में पाखंड, अंधविश्वास आदि ने पुनः पांव जमा लिए थे। जनता के अंधविश्वास का अनुचित लाभ पुजारियों और मुल्लाओं ने खूब उठाया। रामलीला, रासलीला, रामचरितमानस का पाठ आदि सभी कुछ मनोरंजन का साधन बन गया था।

31. रीतिकालीन गद्य साहित्य पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—रीतिकाल में खड़ी बोली गद्य की तुलना में ब्रजभाषा गद्य अधिक समृद्ध है। इस काल में विभिन्न टीकाओं के साथ-साथ गद्य शैली में कथा, वार्ता, जीवनी, आत्मचरित आदि की भी रचना हुई जिनमें 'सूरदास की वार्ता', 'निज वार्ताभावना', 'विवाह पद्धति' आदि का नाम लिया जा सकता है। खड़ी बोली का गद्य साहित्य ब्रजभाषा युक्त है और

अधिकांश गद्य साहित्य अललित है। कुछ एक कृतियों के अनुवाद खड़ी बोली में हुए जिनमें 'भाषा योग वशिष्ठ', 'भाषा ,उपनिषद्' आदि का नाम लिया जा सकता है। राजस्थानी भाषा में प्रेमपरक, वीरतापूर्ण, हास्यमय आदि बातें भी गद्य साहित्य में गिनी जाती हैं जिनमें 'बीरबल री बात', 'गोरा बादल बात' आदि का नाम लिया जा सकता है। इनके अतिरिक्त अवधी भाषा में 'उड़ील', 'रस विनोद', 'सगुनावती' आदि भी हिंदी गद्य साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती हैं।

32. निर्गुण भक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—निर्गुण भक्ति की अनुभूति पर जोर देती है। यदि व्यक्ति में अनुभूति का ज्ञान नहीं है तो उसकी भक्ति का ज्ञान केवल शब्द ज्ञान माना जाता है। आचार्य शंकराचार्य ने कहा है "अनुभवावसानत्वात् ब्रह्मज्ञानस्य"। निर्गुण भक्ति वस्तुतः ब्रह्मज्ञान का विषय है भक्ति का नहीं। निर्गुण भक्ति के कवियों ने मनुष्य को अपनी आत्मा के स्वरूप पहचानने, उसके अनुकूल कार्य करके, परमात्मा में विलीन होने को ही भक्ति माना है।

33. भक्तिकालीन वीर काव्य प्रवृत्ति का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर—यद्यपि भक्तिकालीन काव्य में चार धाराएं – निर्गुण, प्रेमाश्रयी, राम व कृष्ण काव्यधारा ही मुख्य रूप से गिनी जाती हैं, परन्तु इस काल में अन्य काव्य प्रवृत्तियां भी प्रचलित थीं। इस काल की वीर-काव्यधारा में कवि श्रीधर द्वारा रचित रणमल्ल छन्द, दुरसाजी आढ़ा द्वारा रचित 'विरुद्ध छिहत्तरी', दया राम द्वारा रचित 'राणा रासो' आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें 'रणमल्ल छन्द' की भाषा ओजपूर्ण है और उसके लगभग 70 छंद प्राप्त हो चुके हैं। 'विरुद्ध छिहत्तरी' में महाराणा प्रताप की शूरवीरता का यशोगान हुआ है। 'राणा रासो' में सिसोदिया वंश की परंपरा का वर्णन हुआ है। इनके अतिरिक्त 'रतन रासो', 'क्याम खॉ 'रासो' आदि भी वीरकाव्य प्रवृत्ति की रचनाएँ हैं।

34. 'सूफी' शब्द से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर— 'सूफी' शब्द के मूलार्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। अधिकांश विद्वानों ने इसका अर्थ 'सफदू ऊन' माना है क्योंकि वे सूफी शब्द की उत्पत्ति सूफ (ऊन) से मानते हैं। अतः जो साधक ऊन धारण करते थे, वे सूफी कहलाए। कुछ विद्वानों ने इस शब्द की उत्पत्ति सुफ्फा (चूबतरा) से माना है और कहा है कि जो साधक मदीना के आगे बने चबूतरे पर बैठते थे, वे सूफी कहलाए। कुछ विद्वान सफ्फ (पंक्ति) शब्द से भी 'सूफी' की उत्पत्ति होना स्वीकार करते हैं। वस्तुतः सूफी मत का सम्बन्ध इस्लाम से है। ये लोग आध्यात्मिक पथ पर गुरु व प्रेम को अधिक महत्व देते हैं। भारत में सूफी मत का आविर्भाव सिंध प्रांत में हुआ।

35. निर्गुण काव्यधारा के प्रमुख कवियों और उनकी रचनाओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर— निर्गुण काव्यधारा के प्रमुख कवियों में रामानन्द, कबीरदार, रैदास, नानकदेव, हरिदास निरंजनी, सींगा, दादूदयाल, मलूकदास आदि का नाम उल्लेखनीय है। इनमें से भी संत कबीर दास प्रतिनिधि हैं। उनकी रचनाओं में बीजक प्रमुख है। नानक देव एक भ्रमणशील साधु थे। 'असा दी वार', 'रहिरास और सोहिला' उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। हरिदास निरंजनी की प्रमुख रचनाएँ अष्टपदी जोग ग्रंथ, पूजा जोग ग्रंथ आदि हैं। 'अंगवधू' दादूदयाल की प्रसिद्ध रचना है। मलूक दास ने 'ध्रुवचरित', 'सुखसागर', ज्ञानबोध आदि रचनाएँ लिखीं।

36. मनसबी शैली पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—इस शैली का प्रयोग जायसी ने अपनी प्रमुख रचना 'पदमावत' में किया था। इस शैली की अपनी कुछ विशेषताएं एवं नियम होते हैं जिनका पालन रचनाकार को करना पड़ता है। इसमें सबसे पहले खुदा अथवा ईश्वर को याद किया जाता है। फिर मुहम्मद साहब का स्मरण करते हुए अपने आश्रयदाता राजा का यशोगान किया जाता है। तत्पश्चात् कवि इसमें अपने स्वयं एवं अपने परिवार, कुल आदि का वर्णन करता हुआ लौकिक प्रेम के सहारे

औकिक प्रेम का चित्रण करता है। इसमें साधक को पुरुष व परमात्मा को स्त्री माना जाता है तथ साधक प्रेम के बल पर ही अनेक बाधाओं को पार करता हुआ परमात्मा पर पहुंच जाता है।

37. सूफी काव्य के कथा स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

उत्तर— हिंदी में प्राप्त सूफी काव्य का कथा स्वरूप रूढ़ हो गया है। अधिकांश प्रेमाख्यान काव्य में नायक और नायिका अपने माता-पिता की इकलौती संतान होते हैं। प्रायः विवाहित नायक-नायिका की सुन्दरता का वर्णन सुनकर विरह में व्याकुल हो उठता है तथा अपने स्वजनों का त्याग कर वह अपने संगी साथी या अकेले ही वेश बदलकर उसको प्राप्त करने के लिए निकल पड़ता है। गुरुजनों के आशीर्वाद से वह समस्त बाधाओं को पार करता हुआ नायिका को प्राप्त करने में सफल रहता है। कुछ प्रेमाख्यानक काव्यों को सुखांत व कुछ को दुखांत बनाया गया है।

38. प्रेमाख्यानक कवियों की गुरु महिमा पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—यद्यपि सूफी अथवा प्रेमाख्यान कवियों ने भी संत कवियों की भांति अपने काव्य में गुरु का स्मरण किया है। जहां जहां उन्होंने ईश्वर और खलीफा की स्तुति की है, वहां वहां उन्होंने गुरु की महत्ता को भी स्वीकार किया है, परन्तु यह एक दम स्पष्ट है कि उनकी गुरु भक्ति संत कवियों की गुरु भक्ति के समान उत्कृष्ट नहीं है। उन्होंने गुरु को केवल गुरु ही माना है, भगवान नहीं। सूफी कवियों ने अधिकांश स्थलों पर गुरु के स्थान पर पीर शब्द का प्रयोग किया है। यदि पीर ही उनके काव्य में नायक-नायिका को मार्गदर्शन कराता है तथा उनकी बाधाओं को दूर कराता है।

39. प्रेमाख्यानक काव्य की भाषा शैली पर टिप्पणी कीजिए।

उत्तर— प्रेमाख्यानक काव्य की भाषा ठेठ अवधी है। जनता के बीच प्रचलित कथाओं को उन्होंने जनता की ही भाषा में कहा है जिसके कारण उसमें देशज शब्द का खुलकर प्रयोग हुआ है। कुछ एक स्थलों पर अपभ्रंश शब्दों का ही प्रयोग हुआ। सामान्यतः चौपाई और दोहा छन्द में ही रचना लिखी गई है। वैसे तो अनुप्रास, यमक, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सभी अलंकारों का प्रयोग हुआ है, परन्तु समासोक्ति अलंकार का प्रभुत्व बना हुआ है।

40. रीतिकाल में लक्षण ग्रंथों के निर्माण की परम्परा पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—रीतिकाल में अधिकांश कवियों ने लक्षण-ग्रंथों का निर्माण किया है। इनमें भी काव्य विवेचना का आधिपत्य है। लगभग सभी लक्षण ग्रंथकारों ने संस्कृत के लक्षण ग्रंथकार आचार्यों का अनुसरण करते हुए अपनी रचना में काव्य लक्षण का प्रकाश डाला है। परन्तु इसमें गहन चिन्तन व अध्ययन का अभाव स्पष्ट दिखाई देता है, क्योंकि उन्होंने तो केवल संस्कृत के काव्यग्रंथों का अनुवाद मात्र किया है। इसलिए उनके लक्षण ग्रंथों में नवीनता का अभाव है। संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्य व कवि दोनों को अलग-अलग स्थान है, परन्तु रीतिकालीन लक्षण ग्रंथकारों ने पहले काव्य लक्षण लिखकर फिर उसका उदाहरण दे दिया है जिससे आचार्य और कवि का भेद भी समाप्त हो गया है।

41. रीतिकालीन काव्य की शृंगारिकता का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर— रीतिकालीन काव्य में शृंगार रस की प्रधानता है। इस काल में अधिकांश कवि दरबारी थे तथा उनका काव्य प्रयोजन धन प्राप्ति था और धन उन्हें तभी मिल सकता था जब वे अपने विलासी राजाओं की इच्छानु रूप शृंगार परक रचनाएं लिखते थे। इस प्रकार उनका प्रतिपाद्य अत्यंत सीमित हो गया और वे केवल संयोग और वियोग अवस्थाओं का ही बढ़ा चढ़ा कर वर्णन करने तक सीमित रहे। इस कारण उनका काव्य प्रेम के उच्चतम सोपान तक नहीं पहुंच पाया।

42. रीतिसिद्ध काव्यधारा पर प्रकाश डालिए।

उत्तर— इस काव्यधारा के कवियों का मुख्य उद्देश्य काव्य रचना था काव्यशास्त्रीय ज्ञान होते हुए भी वे कवि-लक्षणों की उपेक्षा करते रहे, परन्तु इनके काव्य पर काव्यशास्त्र की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। बिहारी, मतिराम, भूपति आदि की सतसइयां इसी वर्ग में आती हैं। यद्यपि इन काव्य रचनाओं का मुख्य विषय शृंगार है फिर भी विषय की विविधता देखने में आ जाती है। इन विविध विषयों में भक्ति, नीति, वीर रस आदि को गिना जा सकता है।

43. हिंदी काव्य में भ्रमरगीत परम्परा का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर— भ्रमरगीत का प्रथम बार उल्लेख 'श्रीमद्भागवत' के दसवें स्कन्ध के सैंतालीसवें अध्याय में श्लोक संख्या बारह से लेकर इक्कीस तक में हुआ है। इसके पश्चात् सूरदास के काव्य में यह उत्कृष्ट रूप में मिलता है। इसके पश्चात् तो अनेक कवियों ने इस परम्परा को अपना और इसी को आधार बनाकर काव्य ग्रन्थों की रचना की। इन कवियों ने नन्ददास का 'भंवरगीत' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अन्य कवियों में मतिराम, पद्माकर, भारतेंदु, सत्यनारायण कविरत्न, हरिऔध, जगन्नाथदास आदि का भी नाम लिया जा सकता है जिन्होंने इस परम्परा के फुटकर पदों की रचना की।

44. रीतिमुक्त काव्यधारा की प्रमुख प्रवृत्ति पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—रीतिमुक्त कवियों की मुख्य प्रवृत्ति स्वच्छन्द प्रेम रही है। इसलिए इनके काव्य में भी स्वच्छन्द और संयत प्रेम का निर्वाह हुआ है। उनमें भाव प्रवण हृदय की सच्ची अनुभूति है। उनमें कहीं भी कृत्रिमता, बनावट नहीं है। इनके काव्य में वर्णित प्रेम लोक-लाज के भय व परलोक की चिंता से मुक्त है। इनका प्रेम एक सरल मार्ग के समान है। इस काव्यधारा में शारीरिक व मांसल प्रेम की तुलना में आंतरिक प्रेम को अधिक महत्व दिया गया है। अतः कहा जा सकता है कि इनका प्रेम शुद्ध हृदय का योग है, बुद्धि के तर्क-वितर्क को स्थान नहीं दिया गया है।

45. रीतिमुक्त काव्यधारा की विरहानुभूति का संक्षेप में परिचय दीजिए।

उत्तर—रीतिमुक्त काव्यधारा में व्यथा-प्रधान प्रेम का निर्वाह अधिक हुआ है। विरह जनित पीड़ा ही इनके काव्य का पोषक तत्व है। विरह पीड़ा के वर्णन में कवियों ने अधिक रूचि दिखाई है, क्योंकि वियोग में कवि की दृष्टि अन्तर्मुखी हो जाती है। वियोग की अमिट प्यास उसके हृदय को सदैव प्रेमिका से मिलने के लिए आतुर रखती है। इन कवियों की प्रेम तृष्णा हर रोज बढ़ती ही जाती है। सम्भवतः उनकी इस विरहानुभूति पर सूफी कवियों के प्रेम की पीर का भी प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि उनका प्रेम रहस्यमय सा प्रतीत होता है।

46. भ्रमरगीत की अन्तर्वस्तु का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर— भ्रमरगीत मानव "हृदय का आकर्षक चित्रफलक है। भ्रमर के माध्यम से इस काव्य में मानवीय हृदय के विभिन्न भावों को अभिव्यक्त किया गया है। इसके साथ साथ इसमें निर्गुण भक्ति की तुलना में सगुण भक्ति की महत्ता दिखाई गयी है। गोपियों के वियोग वर्णन के माध्यम से प्रेम की महत्ता को भी दर्शाया गया है। अतः कहा जा सकता है कि भ्रमरगीत वियोगिनी नारी की मूक वेदना को मुखरित करने वाला और अद्वैतवाद के स्थान पर अवतारवाद को सर्वश्रेष्ठ बताने वाला काव्य है।

47. उलटबांसियों से आप क्या समझते हैं ?

उत्तर— हिंदी काव्य में उलटबांसी एक ऐसी उक्ति है जो मोटे तौर पर सामान्य लोक प्रचलित धारणा के विपरीत दिखाई पड़ती है। वह अपने स्पष्ट अर्थ में विरोधपूर्ण एवं असम्भव सी प्रतीत होती है। परन्तु वह निरर्थक और बेतुकी न होकर अपने अन्दर एक गूढ़ अर्थ लिए होती है। जन साधारण तक उस गूढ़ बात को पहुंचाने के लिए कवियों ने इस चटपटी शैली को साधन बनाया है। विशेष रूप से संत कवियों ने अपने काव्य में उलटबांसियों का अधिक प्रयोग किया है।

48. सगुण भक्ति काव्य से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—‘सगुण’ शब्द का अभिप्राय है — ‘ईश्वरीय गुणों से युक्त’। वास्तव में ईश्वर को निर्गुण माना गया है, परन्तु यहां निर्गुणमोह—माया के तीन गुणों (सत्त्व, रज और तम) से सम्बन्धित है। इसी प्रकार ईश्वर में ऐश्वर्य, तेज, बल, ज्ञान आदिगुणों का समावेश माना गया है। इन गुणों का पता तभी चलता है जब स्वयं ब्रह्म किसी रूप को धारण कर इन गुणों से सुसज्जित होकर लीला करते हैं। श्रीकृष्ण, राम आदि ऐसे ही रूप के उदाहरण हैं। अतः ब्रह्म द्वारा गुणों सहित अवतार धारण किए रूप की भक्ति करना ही सगुण भक्ति है।

49. राम काव्य परम्परा की समन्वयात्मकता पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—राम काव्यधारा की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि उसका दृष्टिकोण अत्यंत व्यापक है। यद्यपि इस काव्यधारा में राम की भक्ति व स्तुति को ही महत्व प्रदान किया गया है फिर भी कृष्ण, शिव, गणेश आदि देवताओं की पूजा—अर्चना आदि को भी स्थान दिया गया है। राम काव्य परंपरा के सबसे बड़े कवि और सबसे बड़े भगत तुलसीदास ने स्वयं अपने रामचरितमानस में राम के द्वारा शिव की पूजा करवाई है। अतः यह कहा जा सकता है कि राम काव्यधारा के कवियों ने भक्ति को सुसाध्य मानकर ज्ञान, भक्ति, कर्म आदि के बीच समन्वय स्थापित किया है।

50. निम्बार्क सम्प्रदाय का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर— यह सम्प्रदाय कृष्ण भक्ति से सम्बन्ध रखने वाला ब्रजमण्डल का प्रमुख वैष्णव सम्प्रदाय है। माना जाता है कि इस सम्प्रदाय का उपदेश नारद मुनि ने निम्बार्काचार्य को दिया था। निम्बार्काचार्य ने अपने सिद्धान्त की स्थापना के लिए पांच ग्रंथों की रचना की। वस्तुतः यह सम्प्रदाय ‘द्वैताद्वैतवाद’ पर आधारित है। इसमें ईश्वर को सगुण अवतारी श्रीकृष्ण के रूप में स्वीकार किया जाता है। कृष्ण—भक्ति में राधा—कृष्ण का युगल भाव स्वीकृत है। यह सम्प्रदाय दाम्पत्य भक्ति को ही श्रेष्ठ मानता है।

51. राधा वल्लभ सम्प्रदाय का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर— इस सम्प्रदाय की स्थापना आचार्य हित परिवशं गोस्वामी ने सन् 1534 ई. में की थी। इस सम्प्रदाय की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें न तो मुक्ति की कामना है और यह कर्मकाण्ड भक्ति को भी नहीं मानता। इसमें राधा को कृष्ण से भी ऊँचा स्थान देकर उनकी इसने की जाती है। इस सम्प्रदाय के मन्दिरों में कृष्ण के साथ राधा की मूर्ति नहीं होती, बल्कि श्रीकृष्ण की वामभाग में एक गद्दी होती है जिस पर श्रीराधा लिखा होता है। इसे ‘गद्दरी सेवा’ भी कहते हैं।

52. चैतन्य या गौड़ीय सम्प्रदाय का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर—इस सम्प्रदाय की स्थापना चैतन्य महाप्रभु ने की थी। यह सम्प्रदाय ‘अचिन्त्य भेदाभेदे’ सिद्धान्त पर टिका हुआ है। इस सम्प्रदाय का मत है कि ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म — ये पांच तत्व ईश्वर के विभुचैतन्य, सर्वज्ञ, स्वतन्त्र मुक्तिदाता और विज्ञान रूप को दर्शाते हैं। ईश्वर विमुख होने पर जीव बंधनों में पड़ जाता है। मुक्ति पाने के लिए जीव को भक्ति करनी चाहिए जो कि पांच प्रकार की होती है — शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य।

53. कृष्ण काव्यधारा में प्रकृति चित्रण पर टिप्पणी कीजिए।

उत्तर— कृष्ण भक्तिधारा प्रकृति चित्रण से भरपूर है। चूंकि श्रीकृष्ण की लीलाभूमि ब्रज प्रदेश ही है और वहां प्रकृति सौंदर्य का साम्राज्य है, इसीलिए कृष्ण काव्य में उसका अत्यधिक चित्रण होना स्वाभाविक ही है। वियोग श्रृंगार के वर्णन में प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण किया गया है। इसके अतिरिक्त कृष्ण भक्ति कवियों ने उपमान के लिए

सबसे अधिक प्रकृति का ही आश्रय लिया है। अतः कहा जा सकता है कि कृष्ण काव्यधारा में प्रकृति के विभिन्न रूपों पर्वत, वन, नदी, कुंज, लता, द्रुम आदि सभी का विधिवत प्रयोग हुआ है।

54. रीतिकालीन काव्य की वीर रस प्रवृत्ति पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—वैसे तो रीतिकालीन काव्य में लक्षण ग्रंथों और शृंगार परक रचनाओं की अधिकता है, परन्तु औरंगजेब की कट्टर असहिष्णुता के कारण इस काल में वीर रस के काव्य की भी रचना की गई। इस प्रवृत्ति के कवियों में भूषण, सूदन, पद्माकर आदि का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने अपनी ओजपूर्ण भाषा में औरंगजेब का विरोध करने वाले राजाओं की वीरता का गुणगान किया है। इन वीर रस के कवियों में राष्ट्रीयता का प्रधान स्वर है। नवीन खोजों में वीर रससे ओत-प्रोत और भी रचनाएँ प्रकाश में आयी हैं।

55. रीतिमुक्त कवियों के सौंदर्य चित्रण पर प्रकाश डालिए।

उत्तर— यद्यपि रीतिमुक्त कवियों ने अपने पूर्ववर्ती कवियों की रीतिसिद्ध कवियों की भांति अपने काव्य में शृंगार और सौंदर्य का चित्रण किया है, परन्तु उसकी विलक्षणता यह है कि इन स्वच्छन्द कवियों की दृष्टि बाह्य सौंदर्य की अपेक्षा आंतरिक सौंदर्य पर टिकी है जबकि अन्य कवियों की दृष्टि केवल बाह्य सौंदर्य पर टिकी रही है। अतः उसमें मांसल चित्रण की अधिकता है। घनानंद ने अपनी प्रेमिका सुजान, बोधा ने अपनी प्रेमिका सुभान और आलम ने अपनी प्रेमिका शेख के स्वाभाविक सौंदर्य का चित्रण किया है; उसमें कृत्रिमता नहीं है, वासनापरक दृश्य नहीं हैं। यही रीतिमुक्त कवियों के सौंदर्य चित्रण की विलक्षणता है।

56. रीतिबद्ध काव्य में नारी-चित्रण पर टिप्पणी कीजिए।

उत्तर— रीतिबद्ध कवियों के सामने नारी का एक ही रूप था — विलासिनी प्रेमिका का। चूंकि वे दरबारी कवि थे और भोग-विलास में डूबे अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करना ही उनके काव्य का अंतिम लक्ष्य था, इसलिए उन्होंने नारी को भोग विलास का एकमात्र उपकरण माना है। नारी के अन्य रूपों जैसे गृहिणी का रूप, माता का रूप, बहिन का रूप, पुत्री का रूप आदि पर उनकी दृष्टि नहीं पड़ी। कुछ एक रीतिबद्ध कवियों ने आराध्या देवी के भी शारीरिक अंगों का वर्णन करने में ही अपना अभिष्ट समझा है। "तजि तीरथ हरि राधिका तन दुति करु अनुराग। अतः कहा जा सकता है कि रीतिबद्ध कवियों की दृष्टि में नारी का महत्व केवल पुरुष की विषय-वासना का साधन बनने तक सीमित है।

57. रीतिकालीन नीतिकाव्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर— रीतिकालीन नीतिकार कवियों में घाघ, भडुरी आदि का नाम लिया जा सकता है। सामान्यतः खेती-बाड़ी, शकुन, धर्म-आचार, राजनीति, सामान्य ज्ञान आदि के विषयों पर नीतिपरक काव्य की रचना हुई है। इस काव्यधारा में पद्यात्मक शैली को अपनाया गया है और सूक्तियों का प्रयोग हुआ है। अधिकांश कवियों की भाषा सरल एवं सहज है और वह साहित्यिक रूप लिए हुए हैं। उन्होंने दोहे, कुंडलियाँ आदि छन्दों का सर्वाधिक प्रयोग किया है। अधिकांश काव्य ब्रजभाषा में रचित हैं।

58. रीतिकालीन खड़ी बोली गद्य साहित्य का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर—रीतिकालीन खड़ी बोली का गद्य-साहित्य भी शुद्ध रूप में नहीं है। इसके गद्य साहित्य में दूसरी भाषाओं का मिश्रण देखने में आता है। खड़ी बोली के गद्य साहित्य पर ब्रजभाषा का सर्वाधिक प्रभाव दिखाई देता है। अधिकांश साहित्य अध्यात्मक, दर्शन, वैद्यक, ज्योतिष, इतिहास, भूगोल, गणित आदि विषयों पर आधारित है। ब्रजभाषा से प्रभावित खड़ी बोली के गद्य साहित्य में 'बिहारी सतसई (टीका)', 'जपु टीका' आदि प्रमुख हैं। ब्रज, पंजाबी, उर्दू आदि मिश्रित खड़ी बोली गद्य साहित्य में फर्सनाम, 'सुरासुर निर्णय' आदि प्रमुख हैं। अधिकांश गद्य साहित्य की भाषा में

तत्सम शब्दों की प्रधानता है।

59. रीतिकालीन राजस्थानी गद्य साहित्य पर टिप्पणी कीजिए।

उत्तर— रीतिकाल में राजस्थानी गद्य साहित्य का प्रचुर मात्रा में निर्माण हुआ है। अधिकांश गद्य साहित्य वंशावली, पत्र, वात के रूप में है। कुछ एक तुकबंदी में रचित गद्य ग्रंथ भी प्राप्त होते हैं। मुख रूप से वात विधा का राजस्थानी गद्य साहित्य प्रसिद्ध है। 'वात' गद्य साहित्य की प्रमुख रचनाओं में 'सिद्धराज जयसिंह री वात', 'गोरा बादल री वात', 'रावरामसिंहरी वात' आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त इस काल में ललित गद्य साहित्य की रचनाएं भी प्राप्त होती हैं और कुछ गद्य साहित्य टीकाओं व अनुवादों के रूप में प्राप्त होता है।

60. रीतिकालीन भोजपुरी एवं अवधी के गद्य साहित्य पर टिप्पणी कीजिए।

उत्तर— यद्यपि रीतिकाल में रचित भोजपुरी गद्य साहित्य अधिक मात्रा में प्राप्त नहीं हुआ है। और जो गद्य रचनाएं प्राप्त हुई हैं। उनमें अवधी मिश्रित भोजपुरी है। ऐसे ग्रंथों में फणीन्द्र मिश्र के 'पंचायत न्यायपत्र' का नाम लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अवधी भाषा में जो गद्य साहित्य प्राप्त होता है उसमें भी शुद्ध अवधी भाषा का प्रयोग नहीं हुआ है, बल्कि ब्रजभाषा मिश्रित अवधी ही इन गद्य रचनाओं की भाषा है। अवधी की प्रमुख गद्य रचनाओं में रसविनोद, कबीर बीजक आदि का नाम लिया जा सकता है।

61. रीतिकालीन ब्रज-भाषा गद्य साहित्य पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—रीतिकाल में ब्रजभाषा ही कवियों की प्रमुख भाषा थी और जब गद्य साहित्य का विकास होने लगा तब भी अनेक लेखकों ने ब्रजभाषा को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। ब्रजभाषा में रचित अधिकांश गद्य साहित्य वार्ता टीका, अनुवाद, संवाद, जीवनी, ललित गद्य आदि के रूप में प्राप्त होता है। विशेष रूप से वार्ता गद्य साहित्य अधिक महत्वपूर्ण है। इनमें 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' आदि का नाम उल्लेखनीय है। ललित गद्य में 'भक्ति विवेचन', 'हस्तामलक' आदि प्रमुख रचनाएं हैं। शेष गद्य साहित्य अध्यात्म, गणित, ज्योतिष आदि विषयों पर आधारित है।

62. रीतिकालीन गद्य साहित्य के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—रीतिकालीन गद्य साहित्य को मोटे रूप से तीन भागों में बाटा जा सकता है — मौलिक गद्य रचनाएं, अनुदित गद्य रचनाएं, टीकापरक गद्य रचनाएं। इस काल के समस्त गद्य साहित्य पर ब्रज भाषा का मिश्रण देखने में आता है। सम्पूर्ण गद्य साहित्य में ब्रजभाषा में रचित गद्य साहित्य का आधिक्य है। अधिकांश गद्य रचनाएं धर्म, दर्शन, वैद्यक, ज्योतिष, इतिहास, भूगोल, गणित आदि विषयों पर लिखी गई हैं। ब्रजभाषा में रचित 'वार्ता' गद्य साहित्य तथा राजस्थानी भाषा में रचित 'वात' गद्य साहित्य सम्पूर्ण रीतिकालीन गद्य साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।